भूमिका

सच्चिदानन्द स्वरूप परब्रह्म परमात्माद्वारा अनुभूत आनन्द की अभिव्यक्ति के साधन की विवेचना प्रसङ्गानुपयुक्त तथा दुरूह मानने पर भी हम बलपूर्वक प्रतिपादन करने की धृष्टता कर सकते हैं कि उसकी प्रतिकृति जीवात्मा ने इस आनन्द की उपलब्धि के लिये ललित कला को ही अपना साधन चुना। स्थापत्य, मूर्त्ति, चित्र, गान और काव्य इन पांच रूपों में सर्वोत्तम तथा सर्वप्रधान एवं न्यूनतम उपादान कारण से समन्वित काव्यकला मधुमती भूमिका में यौगिक सिद्धि के समान जिस लोकोत्तर आनन्द का उद्रेक करती है वह सहृदयों से तिरोहित नहीं है।

इसके दो स्वरूप हैं दृश्य और श्रव्य। एक को नाटक कहते हैं और दूसरे को काव्य। यद्यपि काव्य-साहित्य के जन्मदाता महर्षि वाल्मीकि के काव्य 'रामायण' को कराल काल कवलित न कर सका, परन्तु प्रजापति, सरस्वती और भरत मुनि से एवं अप्सराओं से अभिनीत समुद्र-मन्थन, त्रिपुरदाह, लक्ष्मीविजय, जामदग्न्यविजय, कुमुदशेखरविजय तथा शर्मिष्ठा-ययाति नामक नाटकों को इस कुटिल काल ने अतीत के गर्भ में ऐसा तिरोहित कर लिया कि इनके केवल नाम साहित्य ग्रन्थों में ही उपलब्ध होते हैं। परन्तु इन प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों से प्रवाहित रस-मयी धारा के दर्शन आज हम इस वीरप्रताप नाटक के रूप में कर रहे हैं।

मुसलिम आक्रमण के अनन्तर संस्कृत साहित्य में नाटकों का निर्माण अवरुद्ध-सा हो गया है। विद्वानों की प्रतिभा टीका ग्रन्थों के निर्माण में मुखरित हो उठी, परन्तु साहित्य के समुन्नायकों को इससे सन्तोष नहीं। क्योंकि मौलिक ग्रन्थों की रचना के बिना संस्कृत भाषा का पुनरुद्धार सम्भवित नहीं। विदेशियों के मुखारविन्द से संस्कृतभाषा के मृतत्व की घोषणा सुनकर किस सहृदय संस्कृत अनुरागी का हृदय क्षोभ से नहीं भर जाता !!

इस समय में नाटक रचना एक दुष्कर कार्य है। आपने न केवल इस दुष्कर कार्य को ही सम्पन्न किया है, वरन एक अपूर्व वीररस प्रधान नाटक की रचना कर संस्कृत साहित्य की वृद्धि की है। आपकी यह कृति एक अमर कृति है और प्रत्येक संस्कृत साहित्य के प्रेमी तथा हितैषी का हृदय आप के प्रति असीम श्रद्धा तथा कृतज्ञता से भरा है। मैं चाहता हूँ विद्वद्गण देखें कि दीक्षितजी ने कितनी मधुर कितनी रम्य कितनी सुन्दर और ओजपूर्ण रचना की है।"

प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के चरित से अपरिचितत्व रखने वाला पुरुष न तो भारतीय हो सकता और न ऐतिहासिक विद्वान्। महान् अकबर की महत्ता के और महाराणा प्रताप के शौर्य-धैर्य साहस के निदर्शक इस पुरुष में स्वतन्त्रता का पावन प्रेम परिलक्षित होता है। आलोचनात्मक दृष्टि से सम्पूर्ण नाटक के अध्ययन करने के अनन्तर इसमें हिन्दू-मुसलिम विद्वेष की गन्ध भी कहीं नहीं मिलती। इसमें सन्देह नहीं कि अकबर के चरित्र से प्रताप का चरित्र अत्यन्त उदात्त और उत्कृष्ट प्रदर्शित किया गया है। स्थालीपुलाकन्याय से एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। प्रतिपक्षी की पत्नियों के प्रति दोनों के विचारों से उपर्युक्त अवतरण का स्पष्टीकरण हो जाता है। एक ओर तो अकबर प्रताप की पत्नी के हरण के लिये आदेश देता है और दूसरी ओर प्रताप के हाथ में आई हुई अकबर की धर्मभगिनी तथा उसके सेनापति की धर्मपत्नी को सम्मानपूर्वक लौटाने का निर्देश करता है।

अकबरः—

सस्नुसुमेनं मदुदुर्विदग्धं मलिम्लुचं क्षीणबलं द्विषन्तम्।
खलप्रियं याचकवद् भ्रमन्तं निहत्य तस्य प्रमदां हरध्वम्॥

षष्ठे अङ्के।

अब अकबर के सेनापति की स्त्रियों की चर्चा सुनिये—

से० चरः—महाराज, युष्मत्सेनापतेः पत्नी युष्माकं धर्मभगिनी सखीभिः सहितैव प्रतापभटैर्निगृहीता।

अकबरः—कथमिदमश्राव्यं शृणोमि। (स्वगतम्)

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता, गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता ।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणं जितोऽहमेतेन निपातितः पदे ॥

पष्ठे अङ्के ।

जब ये स्त्रियाँ प्रताप के पास लाई जाती हैं तो वह कहता है—

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुलोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।
परापवादसदृशं तद्दर्शनमुपेक्षते ॥

तस्मादधुनैव ससुता ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे नयस्व । मा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु । यतः—

पर पुरुष-परीतां निर्जने सञ्चरन्तीं
बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम् ।
बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं
तदपि पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥

सप्तमे अङ्के ।

जब अकबर अपने सेनापति से यह पूछता है कि क्या प्रताप ने स्त्रियों को दासी बना लिया है, तो वह उत्तर देता है—

सेनापतिः—शान्तम् पापम् । शान्तम् पापम् । तेन तु अनुपदमेव ताः सर्वा अपि सबहुमानं प्रेषिताः । धन्योऽयमार्यो जनः परमौदार्यसमन्वश्च ।

किं बहुना—

परस्त्रियं यो मनसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।
चराचरं स्वप्रभया प्रकाशयन्न चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥

सप्तमे अङ्के ।

गत महायुद्ध के (१९३७–१९४४) अवसर पर रूस ने उसी 'घर फूक' नीति से जर्मनी को व्याकुल कर दिया था, जिस नीति का प्रयोग महाराणा श्रीप्रताप ने किया था । प्रताप कहते हैं कि—

प्रतापः—सर्वाप्युपत्यका अन्न-जल-फलादिभिः शून्या विधातव्या ।

तत्प्रकारश्चायम्—

वन्ध्या वा सन्त्ववन्ध्याः क्वचिदपि फलिनो जायमानाः समस्ताः
क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा मूलतः शोधनीयाः।
सस्यं मूलादिकन्दं मधुकमपि लता यत्र कुत्रापि वा स्युः
तत्सर्वं नाशनीयं नहि भवतु यतो भक्ष्यलाभो रिपूणाम्॥
कूपा वाप्यः सरांसि स्वविषयचलिते सत्पथे वाऽपथे वा
यावन्त्येतानि सन्तु क्वचिदपि च भवेद् वारि वा पल्वलं वा।
तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्वो विधेयो
देशोऽस्माभिर्महीध्राद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या॥

तृतीये अङ्के।

इस नाटक का नायक है प्रताप, और प्रतिनायक है अकबर। इसकी कथावस्तु है इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी का युद्ध और भामाशाह की आर्थिक सहायता से पुनः राज्यप्राप्ति। इस ऐतिहासिक नाटक में वीररस की ऐसी सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है कि देखते ही बनता है।

वीरप्रताप में योगिनीके गान में कितनी सरसता है, उसके प्रत्येक पदों में कितनी स्फूर्तिदायिनी शक्ति है—

इसका अवलोकन कीजिये:—

हर हर जय जय देव।
जय प्रताप जय भारतभूषण जय वसुधाधिप देव।
जय जय धर्ममार्ग परिरक्षक जय मर्यादा भूप॥
जय शिशोदियावंशविभूषण जय हरिहर प्रतिरूप।
जय यवनाधिप मानविमर्दक जय जय विजय महेश॥
जय तुरुष्क सेनापति मर्दक जय करवालसुरेश।
जय जय मान नगर विध्वंसक जय राजक तारेश॥
जय जय मान मान विच्छेदक जय मेवाड़ नरेश।
जय संघो तुरुष्क संप्रार्थित जय सच्चरित दिनेश॥
जय नरपते स्वतन्त्र धराधिप जय जय जित यवनेश।

वीरप्रतापे सप्तमे अङ्के।

इस समय संस्कृत के पुनरुद्धार की कितनी आवश्यकता है इससे अवगत होकर जो लोग इसके लिये कितना प्रचार करते हैं यह विवेचनीय है। नवीन नवीन मौलिक रचनाओं के लिये कितने प्रोत्साहन की आवश्यकता है, धनी दानियों के द्वारा कितने 'दालमिया' 'मङ्गलाप्रसाद' पारितोषिकों की अपेक्षा है और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा कितनी सहयोग की आवश्यकता है इसके बारंबार कहने की जरूरत नहीं है। यदि मौलिक संस्कृत लेखकों के बिना अवलम्बन के बिना कर्णधार संस्कृत समुन्नति का स्वप्न देखते रहेंगे, तो यह इसके लिये हित कर न होगा। अतः यदि ये लोग मुक्तहस्त होकर मौलिक संस्कृत लेखकों का सहयोग करें तो हमारे विचार से वह दिन दूर नहीं जब संस्कृत भाषा भी विश्व में समादृत होकर उच्चासन पा सकेगी। भगवती जगदम्बिका वह दिन शीघ्र ही लाये यही हमारी प्रार्थना है।

झाँसी
सरस्वतीसदन
मार्गशीर्ष २०१८
सन् १६६१ ई०

सदाशिवदीक्षित

श्रीः

वीरप्रतापनाटकम्

प्रथमोऽङ्कः

सूत्रधारः—

> या प्रत्यूहपतङ्गसङ्घदहने दीप्रप्रदीपायते
> या दारिद्र्यमहीध्रपक्षदलने देवेन्द्रवज्रायते ।
> या चाज्ञानतमःसमूहहरणे भास्वन्मयूखायते
> सा विष्णोश्चरणारविन्दसुषमा विष्वक् प्रतापायते ॥१॥

> येषां वचनमयूखैर्विकासमायान्ति हृदयकमलानि ।
> तेषां मम हृदयनिवासादज्ञानतमो निरस्येत ॥ १ ॥

अभिनीतविघ्नापहारिणयनया नान्दीरूपेण मङ्गलमारभते–या प्रत्यूह-इत्यादि । या, प्रत्यूहा विघ्नाः पतङ्गा इव, तेषां सङ्घस्य समूहस्य, दहने सर्वतोभावेन विनाशने, देदीप्यमानप्रदीप इव आचरति भायते । देदीप्यमानप्रदीपस्यैव पतङ्गसङ्घदहने सामर्थ्यमिति कृत्वा दीप्रेत्युक्तम् । तथा या दारिद्र्यमहीध्रपक्षाणां दलने देवेन्द्रवज्रवदाचरति । या च अज्ञानरूपस्य तमःसमूहस्य हरणे, भास्वन्मयूखायते सूर्यकिरणवत्प्रकाशते । सा विष्वक् सर्वत्र दिक्षु, न तु स्वल्पदेशावस्थायिनी, एतेन तस्या अनिर्वचनीयदेशावस्थायित्व प्रभावातिशयवैशिष्ट्यं च व्यज्यते । विष्णोश्चरणारविन्दयोः, सुषमा-अत्युत्कृष्टाभा शोभा, 'सुषमा परमा शोभा' इत्यमरः । प्रतापायते प्रताप इव आचरति । अत्र प्रथमचरणेन ऊर्ध्वप्रसारित्वं, द्वितीयचरणेन तिर्यक्प्रसारित्वं, तृतीयचरणेन अधः प्रसारित्वं भाव्यते, तथैव तेषां स्वभावात्, विष्णुपदसुषमायाश्च सर्वतः प्रसारित्वम् ।

अत्र प्रदीपकुलिशसूर्याणामुष्णत्वभानाच्चरणसुषमायाश्च शैत्यबोधनाय चरणाब्जयोरभेदप्रतिपादनम्। प्रतापायते इति। प्रतापः-सर्वराजानां मुकुटभूत आर्यपतिर्यो महाराणाप्रतापः, तद्वदाचरति। प्रतापोऽपि प्रत्यूहस्वरूपस्य अकबरसैन्यपतङ्गसमूहस्य विनाशने देदीप्यमानप्रदीप इवाचरति। उक्तं हि मनुना "बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति'।७।८। एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्। कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसञ्चयम्।" ७।९॥ देवेन्द्रवज्रसादृश्यप्रतिपादनात् बहुदानिरतं तेन दारिद्र्यस्य समूलोच्छेदकत्वं व्यज्यते। या अज्ञानतमःसमूहहरणे भास्वन्मयूखायते। एवं च हल्दीघाटिकयुद्धसङ्घट्टे सैन्यतो बहिर्गमन एव देशरक्षोत्साहिज्ञानोदयात्स्वत एव भास्वन्मयूखायितत्वम्। मनुनाऽपि राज्ञः सूर्यसमत्वमुक्तम् 'तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च। न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम्'।७।६॥ इति। अत्र पतङ्गसङ्घसदृशस्य अकबरसैन्यदहनस्य, अभिमतधनप्राप्तेः, हल्दीघाटिकयुद्धसङ्घट्टे बहिर्गमनस्य च वर्णनीयप्रत्यर्थिविषयस्य व्यङ्ग्यरूपेण प्रतिपादनात् बीजरूपं वस्तु व्यज्यते।

ननु "पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते। प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः।६।२६॥ दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः। सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा।६।२७॥' एतेन "सूत्रधारः पूर्वरङ्गं विधाय निवर्तेत, तदनन्तरं स्थापकः प्रविश्य बीजादि वस्तु सूचयेत्" इति साध्यते, इह तु पूर्वरङ्गमनिरूप्य स्थापककरणीयं बीजवस्तुसूचनं सूत्रधारेण क्रियते तत्कथं युज्यते। इति चेच्छृणु। अत्र प्रतिपादनीयप्रत्यर्थिविषय एव व्यज्यते न तु स्फुटतया पात्रप्रवेशद्वारेण सूच्यते। अत एव न तथाभूतमनुद्दिश्यनामादाय पात्रप्रवेशः कार्यते। ननु पूर्वरङ्गमवश्यं कथं पूर्वमेव नान्दी उपनिबध्यते। तत्रायं नियमः-'पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते' अत्र विधायैवेत्यत्रैवकारेण अयोगव्यवच्छेदार्थबोधनात् सूत्रधारेणाऽवश्यं पूर्वरङ्गं विदध्यादिति प्रतिपाद्यते। पुनस्तत्रैव पूर्वरङ्गलक्षणनिरूपणावसरे तेनैव "यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये। कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते" इत्येवं कुशीलवैः क्रियमाणस्यैव

पूर्वरङ्गत्वमुक्तम्। सूत्रधारकृतस्य तु पूर्वरङ्गतैव नास्ति तत्कथं युज्यते, कथं वा कुशीलवकरणाये सूत्रधारकृतौ विरोधः परिह्रियते। अत्रैवमवगन्तव्यम्। सूत्रधारस्थापक-कुशीलव-नटानां कार्याणि सूत्रधार एव कुर्यात्, तथा सत्येव नाटके रोचकता सम्पद्यते, अन्यथा करणे प्रत्युत सामाजिकानां वैमुख्यं स्यात्, सामाजिका विचारयिष्यन्ति किमर्थमयं पूर्वरङ्गमात्रं नान्दीमात्रं वा कृत्वा निवृत्तः, यदि प्ररोचनां प्रस्तापनां वा अयमेव कुर्यात्तदापि शोभनमेव भवेत्। वस्तुतस्तु सामाजिकानां वैमुख्योत्पादकत्वं, सहृदयहृदयोद्वेजकत्वं वा दृश्यश्रव्यकाव्येषु दोषकताबीजम्। तद्बीजं यदि सूत्रधारमात्रेण नान्दीप्रस्तावनादिके सकले कार्ये कृते न प्रतिभासते तदा न काऽपि क्षतिः। अत एव प्रायशः समस्तैरपि कविभिः सूत्रधारेणैव नान्दीप्रस्तावनादि सकलं कार्यते। न च क्वचिदपि पूर्वरङ्गनान्द्यौ पार्थक्येन क्रियमाणे दृश्येते। अत्रेदं तत्त्वम्। बहुभिः कुशीलवादिभिः सहितेन सूत्रधारेण पूर्वरङ्गः क्रियते, तत्फलं रङ्गविघ्नोपशान्तिरेव। तस्य पूर्वरङ्गस्य प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशत्यङ्गानि तत्र नान्दीरूपमङ्गमवश्यं सूत्रधारेण कर्तव्यम्, तत्फलमपि विघ्नोपशान्तिरेव। एवं च 'तथाप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये' इति आवश्यकेन तत्करणेनैव विघ्नोपशान्तौ तदर्थं क्रियमाणः पूर्वरङ्गोऽन्यथासिद्धः। अत एव न तथारूपेण कैश्चिदपि कविभिः प्रयुज्यते। यदपि सूत्रधारकुशीलवैः क्रियमाणे विरोधप्रदर्शनं क्रियते तत्राप्येवं वक्तव्यम् कुशीलवैः सहितेनैव सूत्रधारेण पूर्वरङ्गः क्रियते। यदि कुशीलवाः केनापि कारणेन नोपस्थिता भवेयुस्तदा सूत्रधारस्तु अवश्यमेव एकेन द्वाभ्यां वा कुशीलवाभ्यां पूर्वरङ्गं कुर्यात्। ननु तर्हि कुतो नैवमुपनिबध्यते, हन्त! कथं तदन्यथासिद्धत्वप्रतिपादनं विस्मर्यते। ननु तर्हि कथं नाट्यशास्त्रकारेण विश्वनाथेन च तथा वर्णितम्, कथं वा तदङ्गानि नाट्यशास्त्रकारेण दर्शितानीति चेदुच्यते-तत्र यदि विस्तारप्रदर्शनपूर्वकं प्रत्याहारादिकानि द्वाविंशत्यप्यङ्गानि कश्चिदुपनिबध्नातु तदापि न क्षतिः। परं तु तथाकरणे नातिशयचमत्कारित्वमवगम्यते, अत एव न कैश्चिदपि प्राच्यैः प्राचीनैर्वा कविभिस्तथोपनिबद्धमिति तदनुसारिणा मयाऽपि न तथोपनिबध्यत इति।

यत्कृपालवमात्रेण मूकोऽप्यायाति वाग्मिताम्।
स एव देवदेवेशः शंकरः शं करोतु नः॥ २॥

(नान्द्यन्ते)

पुनः स्वकार्यसिद्धौ वाग्मितामेव कारण मन्यमानस्तद्गुणप्रापकात् शंकरात्कल्याणं प्रार्थयते-यत्कृपा-इति। यस्य सकलचराचरप्रसिद्धस्य, कृपाया लवमात्रेण-लेशमात्रेण, 'लवलेशकणाणवः' इत्यमरः। मूकोऽपि वाग्मितामायाति, सर्वथा वचनमात्रेणापि रहितो मूको वावदूकेष्वपि वाचोयुक्तिप्रवीणो भवति। एतेन कारणनिरपेक्षकार्यसंपादनसामर्थ्यवत्त्वात्तस्य सर्वलोकातिशयित्व व्यज्यते। उक्त हि 'न खलु परतन्त्राः प्रभुधियः'। स एव देवदेवानामिन्द्रादीनामीशः। शंकरः-शं कल्याणं करोतीति शंकरः। एतेन कल्याणकारित्व तस्य स्वभाव एवेत्यतो न मे प्रार्थनावैफल्यसंभावनाऽपीति भावः। नः-अस्माकं सभासदां नटादीनां च, शं कल्याणं करोतु।

'नान्द्यन्ते' इति। इयं नान्दी, अष्टाभिः पदैरुपनिबद्धा, तथा चोक्तम्। "पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत"। अत्र सुप्तिङन्तैर्द्वादशभिः पदैः, श्लोकचतुर्थभागमेकं पदं मत्वा अष्टाभिर्वा पदैर्नान्दी भवति। तथा च श्लोकद्वयात्मिका अष्टपदीयं नान्दी। यद्वा 'या प्रत्यूहे' ति पूर्वश्लोकः पूर्वरङ्गः, 'यत्कृपालवे' ति द्वितीयश्लोकः सुप्तिङन्तैर्द्वादशभिः पदैरुक्तमा नान्दी। उक्तं च मन्दारमकरन्दे 'अष्टभिर्दशभिः श्रेष्ठा तथा द्वादशभिः पदैः। अष्टादशपदैर्वाऽपि द्वाविंशत्या पदैर्युता' इति। ननु यदि पूर्वश्लोकः पूर्वरङ्गात्मकस्तर्हि पूर्वरङ्गं विधाय सूत्रधारः कथं न निवर्तते, इति चेदुच्यते-नान्द्या अपि पूर्वरङ्गस्यैवाङ्गत्वात्तत्रापि पूर्वरङ्गतैव। किञ्च स्थापककुशीलवादीनामपि कार्याणि सूत्रधारेणैव क्रियमाणानि सर्वनाटकेषूपनिबद्धानीति पूर्वं प्रतिपादितमेव। सूत्रधारस्य तथाविधमेव चातुर्यं यत्सर्वमेव प्ररोचनाप्रस्तावनादिकं कर्तुं प्रभवति। उक्तं च 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते"। मातृगुप्ताचार्यैरप्युक्तम् "चतुरातोद्यनिष्णातोऽनेकभाषासमावृत। नाना-

आज्ञप्तोऽहं विद्वत्परिषदा, यदिदानीं भारते देशे हीनदीनदशामापन्नानां वीराणां शौर्यसाहससहिष्णुतागुणानामुद्द्योतनाय परकाष्ठामापत्तिं भजमानानां मौर्यकालिकक्षत्रियाणां शौर्यधैर्याद्यभिनयेन भाविनवयुवकेषु तत्तद्गुणसंपादनाय, प्रसादनिर्णयरत्नाकरादिविविधग्रन्थनिर्मात्रा मथुराप्रसाददीक्षितेन प्रणीतेन अभिनवेन

भाषणतत्त्वज्ञो नीतिशास्त्रार्थतत्त्ववित् ॥ नानागतिप्रचारज्ञो रसभावविशारद । नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्पकलान्वित ॥ छन्दोविधानतत्त्वज्ञ सर्वशास्त्रविचक्षणः । तत्तद्गीतानुगलयकलातालावधारण ॥ अवधाय प्रयोक्ता च योक्तॄणामुपदेशक । एव गुणगणोपेत' सूत्रधारोऽभिधीयते" ॥ इति ।

एव च श्लोकद्वयात्मकाष्टपद्याः 'यत्कृपे'ति द्वादशपदात्मिकाया वा नान्द्या अन्ते पुन सूत्रधारो भारतीवृत्त्या सभासदा प्ररोचना कुरुते । 'प्रशंसात प्ररोचना'इत्युक्ते । तत्स्वरूपम्—श्रोतृहृदृष्या प्रवृत्तौ उन्मुखीकरणम् । तच्चाग्रिमव्याख्यातः स्वत एव स्फुटीभविष्यति । आज्ञप्त इति । अहम् साक्षादेव न तु केनापि सदेशद्वारेण । तत्रापि विद्वत्परिषदा, न तु एकेन केनापि सामान्यपुरुषेण । एकपुरुषादिष्ट कदाचिदन्यमनस्कतया अभिनिवेशतो वा अन्यथाऽपि भवेत् विद्वत्परिषदादिष्ट नान्यथा भवितुमर्हति । तत्रापि आज्ञप्तः, न तु कथित एव । एतेन तद्वचनानामनुल्लङ्घनीयत्व व्यज्यते । तथा च परिषदेन नाटकग्रन्थ पूर्वमवगत्य मामभिनेतुमाज्ञापयति । एतेन वक्ष्यमाणवस्तुनि आदरातिशयो बोध्यते । अथाज्ञामेव दर्शयति । इदानीम् अधुना हीना-नीचाम्, दीनाम्-दु खबहुलाम्, दशाम्-स्थितिम्, आपन्नाना प्राप्ताना वीराणाम्, शौर्यादिगुणोद्योतनाय-यद्यपि गुणगुणिनोरभेदेनोपस्थानात् वीरेषु शौर्यादयो गुणाः सन्त्येव, तथापि हीनदीनदशात्वेन लुप्तप्रायाणा गुणानामुद्दीपनाय । तथा अधुना जनिष्यमाणेषु नवयुवकेषु शौर्यधैर्यादिगुणाना सपादनाय बोधनाय । यद्यपि तेषु ते गुणाः सन्त्येव तथापि न ते स्वात्मनि विद्यमाना-

वीरप्रतापनाटकेनोपस्थातव्यमिति प्रतिपात्रं विधीयतां यत्नः।

(मनसि) अस्तु तावन्नटीमाह्वयामि।

स्तान् गुणान् जानन्तीति 'भवन्तः शूरा धीराश्च' इति बोधयितुम्। 'परकाष्ठामिति' कन्दरादिनिवासभूशयनोपवासादिचरमदशावस्थायिनीमापत्तिं सेवमानानां पूर्वकालसमुत्पन्नानां क्षत्रियाणाम् महाराणाप्रतापानाम्। अत्र आदरार्थे बहुवचनम्। 'शौर्यादीनामभिनयेन' इति। आदिशब्दाद् धैर्यसाहसबहिष्णुतानां ग्रहणम्।

'प्रसाद' इति। चन्दबरदायिप्रणीतप्राकृतसमिश्रितस्य टीकाभाष्याद्यभावेन विदुषामपि दुर्बोधस्य 'पृथ्वीराजरासो' इत्यभिधेयस्य महाकाव्यस्य लौकिकभाषाया सरलशब्दैः प्रसादाभिधेयटीकायाः, निर्णयसिन्ध्वादिग्रन्थेषु सत्स्वपि धर्मशास्त्रीयविवादग्रस्तविषयाणां जागरूकत्वाद् धर्ममार्तण्ड-बघाटाधिपति-श्रीराजाधिराजदुर्गासिंहमहोदयानामनुरोधेन 'निर्णयरत्नाकर' नामकस्य प्रबन्धस्य, निखिलजैनशास्त्रमालोड्य बृहदाकारमयस्य सप्तभागात्मकस्य (जैनसाइक्लोपीडिया) अभिधानराजेन्द्रकोषस्य निर्माणसहायकेन। आदिपदात् नारायणबलिनिर्णय-कुतर्कतरुकुठार-सामाग्रचिन्तामणि-कवितारहस्य - काशीशास्त्रार्थ-कलिदूतमुखमर्दन-वर्णसंकरजातिनिर्णय अस्पृश्यमन्दिरप्रवेशनिर्णय-जैनरहस्य-भगवद् (विष्णु) नखशिखवर्णनादीनां ग्रहणं बोध्यम्। मथुराप्रसाद-इति। 'रूपकस्य कवेराख्या गोत्राद्यपि स कीर्तयेद्' इति नियमात्कविना नामनिर्देशः कृतः। दीक्षितेन-इति। अयमुपाधिः कवेरष्टमपूर्वपुरुषेण वैदिकप्रक्रियानिपुणेन कर्मठेन कान्यकुब्जेन श्रीकान्तनाम्ना यज्ञे वैदिकमन्त्रैरग्निप्रादुर्भावाद् यज्ञकरणाच्चोपलब्धः। तद्वंशीयाः सर्वेऽपि कान्यकुब्जेषु श्रेष्ठाः श्रीकान्तदीक्षितेत्युपाधिभूषिताश्च मन्यन्ते। दीक्षितस्येति तदुपाधेरेव प्राधान्येन विशेष्यत्वान्नाम्नः पूर्वनिपातः। अभिनवेन-इति। अधुनासमये नाटकीयप्राकृतभाषाया विद्वत्स्वप्रचाराद् भरतप्रणीतनियमानुकूलनाटकनिर्माणे विदुषामप्रवृत्तेः। अनवलोकितपूर्वत्वाद्वा अस्याभिनवत्वम्। यद्-यस्मात्का-

(प्रकाशम्) अयि प्रिये ! (यवनिकातः)

नटी—अज्ज ! इयं म्हि ।

आर्य ! इयमस्मि ।

(ततः प्रविशति गायन्ती नटी)

हंसट्ठाणं करडो लहइ बुहो तं ण को वि वारेइ ।
हंसस्थानं करटो लभते बुधस्त न कोऽपि वारयति ।
पेच्छ सारंगवलायाकदम्बएहिं हठाउ नीसरिओ ॥ ३ ॥
पश्य-सारङ्ग-बलाकाकदम्बके हठान्निःसारित' ॥

रणात् मया वीरप्रतापनाटकेनोपस्थातव्यमिति हेतो प्रतिपाद्य यत्नो विधीयताम् । यत्तदोर्नित्यसम्बन्धात्तदर्थबोधकेन इतीत्यनेन यदित्यस्य सम्बन्ध इति ।

'आज्ञप्तोऽहम्' इत्यारभ्य भारती वृत्तिः । तल्लक्षणं चैवम्—'भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रय । भेदैः प्ररोचनायुक्तैर्वीथीप्रहसनामुखैः' इति । 'अयि प्रिये-इति । अयि इति सम्बोधने । प्रिये ! दयिते ! 'सुख-दुःखादिषु सहचारिणि' ! एतेन विद्वत्परिषदाज्ञापालने सर्वथा सहायकत्व-मस्या अभिव्यज्यते । आर्य इति । नटीसूत्रभृद्भ्या परस्पराह्वानमार्यशब्देन कर्तव्यम् । तथा चोक्तम् 'भगवन्तोऽपरैर्वाच्या विद्वद्देवर्षिलिङ्गिनः । विप्रामात्याग्रजाश्चार्या नटीसूत्रभृतौ मिथ '' इति । इयमस्मि-भवतः सन्नि-कृष्टमेवागताऽस्मि । इदमस्तु सन्निकृष्टवर्तिनि नियमात् ।

हंसट्ठाणम् इति । करट-काकः, 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृ-त्प्रजा.' इत्यमर । सदसत्सदसद्विवेकशून्य काक, सदसत्परिज्ञानरहितः काक इव भीरु परस्त्रीलम्पटः पुरुषविशेषश्च । काकस्वरूपधारिणा जयन्तेन जगज्जननी सीता अभिलषिता, ततो रामेषीकवाणेन काकोऽद्यापि काणी-कृत इति काकस्य परस्त्रीकामुकत्वं प्रसिद्धम् । हंसस्य नीरक्षीरविभेदचतु-रस्य, अथ च युक्तायुक्तविवेककुशलस्य पुरुषविशेषस्य, स्थान-पदं, राज्य-सिंहासनं च । लभते-प्राप्नोति, प्राप्नुमुद्युक्त एव, न तु अद्यावधि प्राप्तः ।

सूत्रधारः—

आर्येऽनया तु गीत्या मे मेवाडं नीयते मनः।
प्रतापांशं यत्र गृह्णन् —(इत्यर्धोक्ते एव)

र करट पुरुष च, कोऽपि बुध पण्डितः, देशादशातस्त्वशश्च। पक्षिषु शुकस्य पण्डितत्व प्रसिद्धम्, कादम्बर्यामुपन्यासे पूर्वजन्मस्मरणात् अध्ययनशीलत्वात्। बोधयतीत्यन्तर्भावितण्यर्थे बुध्यते इति बुध.। तुलसीदासः शुकरूपधारिणा हनुमता बोधित इति प्रसिद्धम्। न वारयति-नैव निवारयतीत्यर्थ.। उश्र पश्य। सारङ्गः-चातक, बलाका-वकस्त्रिय., तेषा कदम्बकै समूहै, हठान्निःसारितः। अन्यत्र साराङ्गाः साराणि अङ्गानि येषा ते साराङ्गा हृष्टपुष्टाङ्गाः। सारङ्गः पशुपक्षिणो। एतयोरेवार्थे शकन्धादौ पाठः अन्यत्र साराङ्ग इति। तथा बलेन सेनया, अकति गच्छतीति बलाक-सेनापतिः, तेषामीपत् कदम्बकै समूहैः हठान्निस्सारित। राज्यसिंहासनमारोढुमिच्छन्नेव जगन्मल्लो रावतकृष्णादिभिर्निस्सारित इति भाव.।

सूत्रधार. 'साराङ्गबलाकाकदम्बकै.' पदैर्बोधित द्वितीयार्थमवगत्य कथयति-आर्ये! नाट्यप्रयोगचतुरेषु श्रेष्ठतमे! एतेन तस्या. स्वकार्यक्षमत्व शोत्यते। अनया प्रत्यक्षत श्रुतया गीत्या तु गीतिनामकच्छन्दसा अथवा गानेन तु मे मन' मेवाड नीयते। अत्र नीयते' इह 'गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम्'इत्युक्ते. प्रधानकर्मणि प्रत्यय.। यत्र यस्मिन् मेवाडदेशे, प्रतापांश-प्रतापस्य, अंशम् अधिकार गृह्णन्, ज्येष्ठभ्रातृत्वात्तस्यैव राज्येऽधिकार इति। इति-अर्धोक्तमेव श्रुत्वा केनापि विपक्षिणा गृह्यमाण स्वराज्यांशमवगत्य नेपथ्ये कुत्रचिद् अप्रत्यक्षविषयस्थाने स्थितः प्रताप: सक्रोध कथयति। आः कष्टम्।

एव प्रजापालकनया मयि स्थिते शौर्यधैर्यादिविशेषगुणविशिष्टे निर्भीकतया युद्धभूमौ विद्यमाने सति को नाम ममांशम् अणुमात्रमपि मदीयभाग ग्रहीतु-हठादास्कन्दितु शक्नोति। न कोऽपीत्यर्थः। 'जगदिति' पूर्वेण सबन्धः। यत्र प्रतापांशं गृह्णन्, जगत्-जगन्मल्लनामा प्रतापस्य

(नेपथ्ये)

आः, क एवं मयि स्थिते ममांशं ग्रहीतुं शक्नोति।

सूत्रधारः— जगत् कृष्णैर्निवारितः ॥ ४ ॥

(इति ब्रुवन् निष्क्रान्तः सनटीकः सूत्रधारः)

(प्रस्तावना।)

(आः क एवं मयि स्थिते ममांशं ग्रहीतुं शक्नोति इति पठन् प्रविशति सालुम्बसहित. प्रतापः।)

लघुभ्राता। उत्तरपदलोपाद् भीमादिशब्दवत्पूर्वपदमात्रेण जगदित्यनेन जगन्मल्लस्य ग्रहणम्। कृष्णै. रावतकृष्णादिभिः, निवारितः—हठात्प्रतिषिद्ध. ॥ ४ ॥

अथ स्वरसयोगेन प्रतापागमनमवगत्य नटीसहित· सूत्रधारो निष्क्रान्त.। इति प्रस्तावना—"सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा। भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते" इति कथोद्घाताख्या प्रस्तावना।

ततः—आः क एवमित्यादि पठन् रङ्गभूमौ सालुम्बसहितः प्रतापः प्रविशति। मद्भागेत्यारभ्य आम् ज्ञातमित्यादि सुगमम्। अथेति। यत्पित्रा जगन्मल्लाय राज्यं दत्त तदेवोद्दिश्य केनाप्युच्यते इति निश्चयानन्तरं किञ्चित्परिक्रामन्पठति। लोकव्यवहारेऽपि काऽपि अभिनिविष्टस्तथाभूत-परामर्शं एवमेव करोति।

किं पठतीत्याह—किं स्वातन्त्र्येति। किमिति परामर्शे। किं स्वातन्त्र्यार्थं, मया स्वस्य-आत्मनो, बान्धवेषु जगन्मल्लादिबान्धवेषु, जनेषु-साधारणजनेषु च। अनादरातिशयात् स्वबान्धवजने इत्यनेक-वचनम्। हेतिः वह्निज्वाला, गृह्यताम्। अय भावः स्वातन्त्र्यबुद्ध्या विधीयमाने यत्ने गृहकलहाग्निज्वालाया सर्वानपि आत्मना बान्धव-प्रजादींश्च भस्मसात्कुर्याम्। यद्वा-किं स्वातन्त्र्यार्थं, स्वे—स्वकीये, बान्धवजने जगन्मल्ले, हेति· शस्त्र, गृह्यताम्, तज्जयेन राज्यप्राप्त्यर्थमिति भावः। किं वा, स्व विषयं विहाय, राजतः स्वकीयं संबन्धं विच्छिद्य।

(इतस्ततोऽवलोक्य—) मद्भागहरणबुद्धिर्गर्वप्रध्वस्तभागधेयोऽसौ ।
कोपानले पिपतिपुर्धावति को यमपुरीं गन्तुम् ॥५॥

विमृश्य—आम् ! ज्ञातम् । पित्रा जगन्मल्लाय राज्यं दत्तम् । तदेवो-
द्दिश्य केनाप्युच्यते । (अथ किंचित्परिक्रामन् पठति)

किं स्वातन्त्र्यकृते स्वबान्धवजने हेतिर्मया गृह्यतां
किं वा स्वं विषयं विहाय विपिनं शान्त्या समासेव्यताम् ।
संघर्षात्स्वजनेषु दास्यपदवीं मा गात् प्रजा मेऽधुना
बाढं वा मरणं भवेन्मम न तु स्यान्म्लेच्छदृष्टा धरा ॥६॥

(इति विमृशन्पुनरितस्ततः परिक्रामति ।)

किमौर्ध्वदैहिकं कृत्यं पितुः पूर्वं विधीयताम् ।
किं वा देशपरित्याग इति दोलायते मनः ॥ ७ ॥

यद्वा स्वं विषयं-देशं, विहाय त्यक्त्वा, शान्त्या-शान्तिपूर्वकं, विपिनम्-अरण्यं समासेव्यताम् । मोक्षेच्छया शान्तिपूर्वकमेव तत्सेवनं, न तु भयेन कातरधिया वेति भावः । एतदेव समर्थयति । स्वजनेषु स्वकीय-बन्धुवर्गेषु, संघर्षात् परस्परकलहेन शक्तिक्षयात्, अधुना मे प्रजाः स्वस्य राज्येऽधिकारान्मम प्रजा, दास्यपदवीं दासतायाः मार्गं मा गात् प्रजासु नै-कोऽपि दासतां व्रजेदित्येकवचनम् । यद्वा प्रजा मम सन्ततिः । 'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने' इत्यमरः । यद्यपि जाते संघर्षे इदानीमेव दासता न प्राप्स्यति परं त्वेवं सति दास्यपदवी निर्मिता भविष्यतीति तन्निर्मितो प्रजा तां पदवीं प्राप्स्यतीत्यर्थः । वा अथवा बाढं-निश्चयेन, मम मरणं भवेत् । मया संघर्षभिया राज्यत्यागादरण्यगमने कृते बान्धवो निष्कण्टकराज्योपभोग-बुद्ध्या मा कण्टकं मन्यमानोऽरण्ये मा हनिष्यतीति हन्तु नाम, परं मम धरा म्लेच्छदृष्टा न स्यात्, म्लेच्छेन यवनाधिपतिना अकबरेण दृष्टा अपि न स्यात् किमुत तदाधिपत्यं स्यात् । अत्र स्वकीयमरणादपि अकबरकृत-स्वकीयधरादर्शनमनिष्टकरमिति तात्पर्यम् ॥ ६ ॥

अथ देशत्यागनिश्चयेऽपि किमधुनैव देशत्यागः कर्तव्यः, किं वा पितु-रौर्ध्वदैहिकक्रियानन्तरमिति विचारयति—किमौर्ध्वदैहिकमिति । किम्-ऊर्ध्वदेहनिष्पादकं पूर्वं पितुः कृत्यं दशगात्रादिकं विधीयताम्, मयेत्यध्या-

(सालुम्बमभिलक्ष्य) आः पश्य, प्रधानमन्त्रिसमन्वितो जगन्मल्लः इत एव वितानप्रदेशे समायाति। अत आवां दूरस्थितौ भूत्वा तत्रोपविश्य पश्यावः-'किमसौ विदधाति।' (इति तथा कुरुतः।)

(ततः प्रविशति वितानप्रदेशे विटचेटक-चूडावत्प्रधानमन्त्रिसमन्वितो जगन्मल्लः। अथ सर्वे यथास्थानमुपविशन्ति)

प्र० मन्त्री—महाराज! ज्ञातिदेशप्रथानुरोधेन पूर्वं राज्यपीठाधिरोहणं विधाय अभिषेकानन्तरमेव पितुरौर्ध्वदैहिकी क्रिया कर्तव्या।

हार्यम्। किं वा ततोऽपि पूर्वमेव देशपरित्यागः विधीयताम्, इति मे मम मनः, दोलायते—दोलेव कदाचित्पूर्वविचाराश्रयि भवति, कदाचिदुत्तरविचाराश्रयि भवति। यद्वा-दोलेव कदाचिद् ओजोगुणप्राधान्याद्वीररसाश्रयितया ऊर्ध्वं गच्छति। कदाचिच्च हिंसाबाहुल्यात् अनिष्टशङ्कया च वैराग्यात् अधो गच्छति। यद्वा-पितु. कृत्यसंपादनार्थं युद्धकरणे हिंसाबाहुल्यात् अधोगच्छति, वैराग्यात्पापराहित्येन ऊर्ध्वं गच्छति। द्विविधा दोला भवतीति तथैव व्याख्यातमिति। 'रूप वाक्य वितर्कवद्'इति लक्षणात् रूपाख्य गर्भाङ्गम्॥ ७॥

सालुम्बमिति। सालुम्बं प्रति कथयति-आः पश्येत्यादि।

विटचेटकेति। एते नायकस्य सहायका भवन्ति। तथा चोक्तम्-'शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः। भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः।' अस्य नायकस्य प्रतिनायकस्य च सहाया एते। प्रधाननायकस्यैवेति तु न नियमः। अत एव मृच्छकटिके शकारस्याप्येते सहाया दर्शिताः। तत्र विटः-"संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्"। चेटः-शृङ्गारिकोऽनुचारः। प्रथानुरोधेनेति। अत्रेदं बीजम्-राज्यपीठाधिरोहणात्पूर्वमेव विधीयमाने मृतस्य पूर्वराजस्य दाहे यावत्कालं कश्चित् राजा सिंहासने नोपविशति तावत्कालमराजकं तद्राज्यं संपद्यते। अनन्तरमवश्यापरः प्रत्यनीकराजः आक्रमेत, अनधिकारिकश्चावकाशमादाय केषाचित्सा-

विटः—युज्यते चैवम्। अतो राज्याभिषेकोत्सवे पूर्वं द्राक्षायाः सुरा आनीयताम्, गणिका च।

जगन्मल्लः-चेटक! युक्तमुक्तं विटेन, अतस्त्वरितमेव राज्याभिषेकोत्सवानुरूपं सर्वं संपादनीयम्।

चेटकः—जं देवो आणवेदि।

यद् देवः आज्ञापयति।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह मार्गे गच्छति चेटः।)

चेटः—अयि माउले!

अयि मातुलि!

अज्ज रज्जुच्छवे तुज्झ धणं दावेमि जं बहु।

अद्य राज्योत्सवे तुभ्य धन दापयामि यद् बहु।

तयद्धभागो अम्हाण तुम्हे त्ति पडिवज्जह ॥ ८ ॥

तदर्धभागोऽस्माकं यूयमिति प्रतिपद्यध्वम् ॥ ८ ॥

दाय्येनाधिपत्यं गच्छेथ। और्ध्वदैहिकीति। दाहानन्तर दशगात्रीयपिण्डादिभिः सपाद्यमाना। राज्याभिषेकोत्सवानुरूपमिति राज्याभिषेकोद्देशिकस्य उत्सवस्यानुरूपमिति भावः। तदनुरूप च नृत्यगानसुरापानादिकमेवेति तत्तात्पर्यम्। अयीति। अयि इति संबोधने। 'मातुलि' इति नीचानामुक्तयः। प्रायशो मातुलादिसम्बन्धाभावेऽपि तथा ब्रुवन्ति।

अज्जेति। अद्य राज्योत्सवावसरे यद् बहु धन द्रव्यवस्त्रादिक तुभ्यं दापयामि दापयिष्यामि। 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' इति भविष्यदर्थे लट्। तदर्धभागः-तस्य प्राप्यद्रव्यस्य अर्द्धभागः, अस्माक भवतु, यूयम्, इति मदुक्त स्वीकुरुत। अत्रैकवचनस्य प्रकान्तत्वेऽपि अस्मदो द्वयोश्चेत्येकवचने बहुवचनम् ॥ ८ ॥

तुभ्यमिति। 'रुच्यर्थाना प्रीयमाणः' इति चतुर्थी।

आः कुर्वन्तीति—आः इति अत्यन्तदुःखप्रदर्शनानुरूपे। कुर्वन्तीति क्रियया एते इत्याहियते एते लोकाः, दिवं गतस्यापि—स्वर्गं गतस्यापि, मदिरा सुरा पीत्वा, ऊर्ध्वक्रिया—दशगात्रीयपिण्डादिना ऊर्ध्वदेहसंबन्धिनी

वेश्या—यथा तुभ्यं रोचते।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह गच्छन्तं चेटं विलोक्य विलपति प्रतापः।)

प्रतापः—आ कुर्वन्ति दिवं गतस्य मदिरां पीत्वा पितुर्दुष्क्रियां
किं कुर्यां, वसुधे, पिधेहि ननु मां स्वाङ्के, चिरं मा कृथाः।
यत्तातः क्रिययाऽनया विहितया सद्धार्मिकाणां वरो
देवत्वादपनाय्य जीवति मयि प्रेतत्वमापाद्यते॥ ९॥

(इत्युद्विग्नमना दीर्घमुच्छ्वसिति।)

क्रिया कुर्वन्ति। प्रकृतत्वात् येन पिना अस्मै राज्यं दत्तं तस्य दिवं गतस्य पितुरिति योज्यम्। एतेन महाकृतघ्नोऽकार्यकारी चायमिति व्यज्यते। अथ उभयसाधारणं जनकत्वसम्बन्धमवगत्योद्विग्नः सन् कथयति किं कुर्यामित्यादि। प्रधानमन्त्रिणः पक्षपातित्वात्, विश्वाऽस्मै एव राज्याधिकारदानात्, हठाद्विरुद्धाचरणे गृहकलहाग्निभयादनिष्टशङ्कातश्च किंकर्तव्यताविमूढः कथयति–किं कुर्यामिति। नाहमिदानीं किमपि कर्तुं शक्तः। तस्मात् हे वसुधे! ननु निश्चयेन मां प्रताप स्वाङ्के स्वकीयोत्सङ्गे, 'उत्सङ्गचिह्नयोरङ्कः' इत्यमरः। पिधेहि–आच्छादय। विदीर्णा सती त्वं मां स्वान्तः स्थापयेति तात्पर्यार्थः। चिरं मा कृथाः, विलम्बं न विधेहि। 'माङि लुङ्' इति लुङ्। विलम्बासहत्वे हेतुं प्रदर्शयति। यद् यस्मात् कारणात्, सद्धार्मिकाणाम् उत्तमधर्माचारिणां वरः, एतेन शिवाराधनभगवद्भक्त्याद्युत्तमधर्मचारिषु सर्वोत्तमत्वमस्य सूचितं भवति। एवम्भूतस्तातः, विहितया कृतया मद्यपानस्य पूर्वं कृतत्वात् करिष्यमाणानामपि अपरेषामङ्गाना तद्दूषितत्वमविरुद्धमेव। अनया पुरो दृश्यमानया वेश्यासंसर्गादिदूषितया क्रियया, मयि जीवति सति देवत्वादपनीय स्वकृतकर्मप्रभावतो देवत्वप्राप्तियोग्यतासम्पन्नेऽपि ताते तथाभूतक्रियाकलापवशात् देवयोनेर्निरास्य प्रेतत्वमापाद्यते प्रेतयोनिं प्राप्यते। क्रियाफलबलात्तातः प्रेतयोनिं प्राप्यते। अकथितं चेति प्रधाने कर्मणि प्रत्ययः। तथाभूतक्रियादर्शनात्पूर्वमेव मन्मरणं श्रेयः इति भावः॥ ९॥

(नेपथ्ये)

प्रताप ! धैर्यमवलम्बस्व । भगवदाराधनतत्पराणां नैवं-
विधा क्रिया भवति ।

(ततः सुरामादाय गणिकया सह प्रविशति वितानप्रदेशे चेटः, सर्वे
यथास्थानमुपविशन्ति, सुरां पिबन्ति च ।)

प्रतापः—(दूरतस्तदवलोक्य मनसि) कथं देवा अपि विप्रलम्भयन्ति।
पश्यन्तु ते ।)

सुरा पिबन्त्येष मदीयबान्धव
क्रियां चरिष्यत्ययमित्यपि ध्रुवम्
नचोह्यते स्वीयजनैर्व्यसिमेंधा
सुराः कथं नैव मृषा वदन्त्यतः ॥ १० ॥

विटः—शोभनेयं सुरा । मधुरोन्मादिनी च ।

चेटः—सुराओ अम्हे माउलाणी अइसोहणा । उअ—
सुरातोऽस्माकं मातुलानी अतिशोभना । पश्य—
दिट्ठी पफुल्लसरसीरुहतुल्लरूवा
दृष्टिः प्रफुल्लसरसीरुहतुल्यरूपा ।

नेपथ्ये—कुतोऽप्यदृष्टस्थानाच्छब्दोच्चारणविषयीभूते स्थाने ।
भगवदिति । भगवदाराधनफलबलात्प्रत्यक्षविषयीभूतायामपि तथा-
भूतसामग्र्यामतर्कितप्रतिबन्धप्राप्तेर्नैवंविधा-प्रेतत्वाद्यशुभयोनिप्रापिका क्रिया
भवति। विप्रलम्भयन्ति—प्रतारयन्ति । ते प्रत्यक्षत एव विलोकयन्तु ।
चेट स्वाधीनवेश्यायाः शरीरसौन्दर्यं वर्णयन् सुरातस्तस्यामाधिक्यं
च दर्शयति—दिट्ठीति । अस्याः-वेश्यायाः दृष्टिः प्रफुल्लस्य सरसीरुहस्य
तुल्यं रूपमाकारः सौन्दर्यं वा यस्याः तथाभूताऽस्ति । शुभं—कल्याणकरम्
'से'अस्याः, आननं-मुखं, सपूर्णचन्द्रसदृशं पूर्णचन्द्रवदाह्लादजनकम् ।
से-अस्याः इति घण्टालोलान्यायेन उभयत्र सबध्यत इति । अस्याः
लावण्यं सर्वेषामवयवानां संस्थानसौभाग्यं कान्तिर्वा, रूपं सौन्दर्यम्,
पुनस्तयोर्द्वन्द्वः । 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यंति' प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः अरविन्देन

सुधोद्भवा खञ्जनदृक् शुभस्तनी
सुधाभुजामूरूभवेव राजते ॥ १३ ॥

(ततः प्रविशति कर्मकाण्डकोविदपुरोहितः ।)

मन्त्री—कुमार ! ससामग्रीकः पुरोहितः समुपस्थितः । अतो राज्याभिषेककार्यारम्भो विधीयताम् ।

चेटः—(सखेदं सनिर्वेदं च नीचैः स्वरेण)

कुदो सिआलपुत्तो समुवट्ठिओ ।

कुतः श्यालपुत्रः समुपस्थितः ।

जग०—यथा भवतामनुमतिः । (वेश्यादयः एकतोऽवतिष्ठन्ते ।)

मन्त्री—पुरोहित ! राज्ये जगन्मल्लस्याभिषेकः क्रियताम् ।

अथ विटो जगन्मल्लं सतोषयता वर्णयति इयमिति । रतिक्रियाया ये भेदा विभेदाश्च, तेषु पण्डिता । रतिविषयककलाकौशल्यवती इव भुजिष्या परिचारिका, परिचारिकास्वरूपेण प्रख्यमाणा । भवतः अनुरूपिणी-रतिविषयककलाकौशल्यसाम्यात् भवतः एव योग्याऽस्ति । एतेन त्वमपि रतिविषयककलाकौशल्यवानसीति सूच्यते । सुधोद्भवा-सुधाया उद्भवो यस्या सा । पूर्वकथित सुधामिव कलेवरे निपिबन्तीत्यादिकं विट सर्वथा स्वकृतवर्णनेन समर्थयति-इयं सुधोद्भवा । अत एव कटाक्षविक्षेपादपि सुधा निःस्रवति । कार्यगुणा हि कारणगुणानाश्रयन्ते इति नियमात् । तथा खञ्जनदृक् खञ्जन इव दृशौ दृष्टी यस्याः सा । अत्र सादृश्य खञ्जन इव, श्वेतश्यामतया चाञ्चल्याच्च खञ्जनेन औपम्यम् । शुभस्तनी सुन्दरस्तनयुक्ता । सुधाभुजां देवानां सम्बन्धिनी, ऊरुभवा उर्वशी इव राजते । विष्णुना जङ्घातः उर्वशी समुत्पादिता इति पौराणिकी कथाऽत्रानुसंधेया ॥ १३ ॥

पुनरुक्तम् सत्पुरोहित उदयसिंहस्य कातरतां दर्शयति ।

सांगाभटेति एव वीरः प्रतापः सांगासमस्य समनन्तरमेव यदि जातः अभविष्यत्, तदा सकला-समस्ताऽपि, भूः समस्तमपि भारतं वर्षमित्यर्थः, स्वातन्त्र्यम् आप्स्यत्, अत्र क्रियाया अनिष्पत्तिर्गम्यते एव । यस्मात्सांगा-

पुरो०—यदाज्ञापयन्ति भवन्तस्तत्प्रमाणम्, परं तु—
(इति मौनमास्थितः।)

मन्त्री—विस्रब्धं ब्रूहि, यदपरं वक्तव्यम्।

पुरो०—इदमपरं वक्तव्यम्, यद् राज्ये ज्येष्ठपुत्रस्यैवाधिकारः, न काममप्ययोग्यतां ज्येष्ठपुत्रे प्रतापे विलोकयामः, नापि केनापि कारणेन प्रतापमनधिकारिणं तर्कयामः।

मन्त्री—यदा महाराजेन उदयसिंहेन जगन्मल्लाय राज्यमदायि, तदा कथमिदं नोक्तम्?।

पुरो०—महाराजं मरणासन्नमवलोक्य तदात्मनो व्यर्थमेव क्लेशसंपादनाय नोक्तम्। निर्धारितं चैतत्, यत्स्वत एवानन्तरं युक्तमेव भविष्यति।

किञ्च—साँगाभटानन्तरितः प्रतापो,
जातोऽभविष्यद् यदि चैष वीरः।
स्वातन्त्र्यमाप्स्यत्सकला तदा भू-
र्मध्ये न चाभूदुदयस्त्वधीरः॥१४॥

नेपथ्ये—

साधु पुरोहित! बृहस्पतिमते! साधु। एवमेवैतत्।

(तत्समनन्तरमेव प्रतापमादाय प्रविशति झलारावनरेशशालुम्ब्र-समन्वितो रावतकृष्णः।)

भटस्य समनन्तरं प्रतापो न जातः, अस्मादेव समस्ता भूः स्वातन्त्र्यं नाप्स्यत्। पुनस्तदेव समर्थयन्नाह्ययति—अधीरः, उदयः-उदयसिंहः, मध्ये-सांगाप्रतापयोर्मध्ये, न च-नैव अभूत्। तयोर्मध्ये उदयसिंहसद्भावादेव भारतं स्वतन्त्रं नाभूत्, एतेन उदयसिंहकार्यं पराधीनताप्रापकमिति जगन्मल्लस्याभिषेकमधिक्षिपति। प्रतापस्य च राज्याभिषेके कृते उदयसिंहस्य मध्ये सद्भावात् समस्तं भारतं स्वतन्त्रं न भवेत्, परमेवमपि मेवाडं स्वतन्त्रमेव भविष्यतीति प्रतापाभिषेक एव कर्तव्य इति तदाशयः॥ १४॥

पुरोहित इति—पुरः अग्रे प्रत्यक्षतः पुरतो वा हितं यस्मादिति अन्वर्थमेव ते नामास्ति। बृहस्पतेर्मतिरिव मतिर्यस्य, यथा बृहस्पतिः

रावतकृष्णः—मन्त्रिन्। राज्ये कस्याधिकारः? प्रतापस्य जगन्मल्लस्य वा? को वाऽनयोर्योग्यः?

मन्त्री—उदयसिंहमहाराजेन जगन्मल्लाय राज्यं दत्तम्।

रा० कृष्णः—(सक्रोधम्) कस्मै दत्तमिति न पृच्छ्यते। किं तु कस्याधिकारः? को वा योग्यः?

मन्त्री—प्रतापस्यैवाधिकारः, स एव योग्यश्च।

र्योऽपि निर्भयतया स्वमुखनिरपेक्षतया याथार्थ्येन युक्तायुक्तविचारपूर्वकं करोति, एवं त्वमपि निर्भीको यथार्थवक्तेति भावः। एवमेवैतदिति नेपथ्यस्थैर्निरपेक्षैर्ब्राह्मणादिभिर्देवैर्वा समर्थ्यते। एवमेवेत्यादिना। सर्वथा त्वदुक्तमुचितमिति भावः। मन्त्रिन्निति। मन्त्रिन्! रहस्यविचारेषु यस्य बुद्धिः प्रवर्तते, सर्वथोचितविचारकारिन्!। कस्याधिकार इति साऽधिक्षेपमादिशति। प्रतापस्य जगन्मल्लस्य वा? ज्येष्ठपुत्रस्यैव धर्मशास्त्रेऽधिकारसमर्थनात्स एव योग्यो भवति। अथ ज्येष्ठपुत्रोऽपि क्वचित्पित्राज्ञाविरुद्धाचरणान्नीचगुणयुक्तत्वात्पतितत्वादिदोषाच्चायोग्यो भवतीत्याह—को वाऽनयोर्योग्यः। पितृभक्त्याद्युत्तमगुणयुक्तः प्रजावत्सलो धार्मिकश्च प्रताप एव योग्य इति तत्तात्पर्यम्। मन्त्री तत्प्रश्नोत्तरमदत्त्वा छलेन जगन्मल्लं समर्थयन्—'महाराजेन जगन्मल्लाय राज्यं दत्तम्' इत्युत्तरयति। पितुरधिकारात्स यस्मै दद्यात्तस्यैव राज्यम्। को वा योग्यः को वाऽयोग्य इति तु उदयसिंहो जानीताम्, मया तु यस्मै दत्तं तस्यैवाधिकारो मन्यते। सक्रोधम् एतेन यदि त्वयौचित्ये विचारो न क्रियते तदा अहं शस्त्रबाहुल्येन हठाद् योग्यमेव स्थापयिष्यामि। कस्मै इति। इदं तु मया पृष्टमेव न, कथमन्यत्पृष्टमन्यदुत्तरयसि इति छलं मा कुरु। अथ त्वया मम प्रश्नो नावगत इति चेत्तर्हि पुनः कथयामि-कस्याधिकारः को वा योग्यः, अधिकारिणं योग्यं च कथय। अधिकारिणो योग्यस्य च प्रतापस्य स्वीकारात्तत्समर्थनं स्वत एव फलिष्यतीति तदाशयः। अथ मन्त्री प्रतापस्याधिकारं योग्यता च स्वयं स्वीकरोति—स एव योग्यश्चेति। चतुर्विंशतिष्वपि भ्रातृषु प्रताप एव योग्यः, नेतरे। अत्रैवकारेण इतरेषां व्यावृत्तिरपि विधीयते।

रा० कृष्णः—तर्हि (अङ्गुल्या निर्दिशन्) अयमेवाभिषिच्यताम् ।

मन्त्री—परं तु अयं न स्वीकरोतीति श्रुतम् ।

रा०—कृष्णः—कथं न स्वीकरिष्यति ।

मन्त्री—यदि अयं स्वीकुर्यात्तर्हि 'स्वर्णे सुगन्धः' इत्यहं मन्ये । एवं सति आर्यगौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति ।

(ततः प्रतापाभिमुखं सर्वे उपतिष्ठन्ते ।)

पुनः रावतकृष्णस्तत्स्वीकृतिं कार्यान्विता विधातुमाह – तर्हि अयमेवाभिषिच्यतामित्यादिना । एवं च तदभिषेके भवतोऽनुमतिरस्तीति ज्ञायते ।

मन्त्री स्वविरोधं परिहरन् तस्यानभिषेके स्वदोषं च वारयन् कथयति—परंतु इति । यद्यपि अहं तमेवाभिषेक्तुमिच्छामि । परंतु स प्रतापः स्वीकरोत्येव न । एवं च तदस्वीकारादेव अगत्या जगन्मल्लमहमभिषिञ्चामि । अधिकारिणः प्रतापस्य त्यागादनधिकारिषु मध्ये पित्रा जगन्मल्लाय दत्तमिति कृत्वा जगन्मल्लस्यान्यापेक्षया अधिकारात् । किञ्च यथा प्रतापो न स्वीकरोत्येवमन्येऽपि न स्वीकरिष्यन्तीति जगन्मल्लमभिषिञ्चामीति तदाशयः । पुना रावतकृष्ण आह–स कथं न स्वीकरिष्यतीति । स त्वव-श्यमेव स्वीकरिष्यतीति भावः । त्वया तथाभूतो यत्न एव न विहितो येन स स्वीकुर्यात्, किं तु अहमिदानीमेव तं स्वीकारयिष्यामि । अथ मन्त्री तदभिषेके सर्वथा स्वविरोधं परिहरन् परमप्रसन्नतां प्रकटयति–यदि स स्वीकुर्यादित्यादिना । 'जातुयदोर्लिङ्' इह 'यदायदोरुपसंख्यानम्' इति भविष्यदर्थे लिङ् लृटोऽपवादः । 'स्वर्णे सुगन्धः' इति असंभावितामेव तत्कृतां स्वीकृतिमहं मन्ये । यथा प्रयत्नशतैरपि स्वर्णे सुगन्धो नोत्पादयितुं शक्यः, एवं तत्कृता स्वीकृतिरपि असंभावितैव । एतेन प्रतापस्य राज्याभिषेके मया महान्प्रयत्नो विहित इति दर्शितं भवति । अथ वा-स्वर्णं स्वत एव बहुमूल्यं सुशोभनं च वस्तु, तत्र यदि सुगन्धः स्यात्तदा तु अतर्कित एव महान् लाभः स्यात् । एवमेव प्रतापस्य राज्याभिषेके महान् लाभ इत्यर्थद्वयेन विरोधपरिहारः प्रसन्नता च प्रकटितौ भविष्यतः । एवं च तत्कृते राज्याभिषेकस्वीकारे फलं दर्शयति–आर्यगौरवरक्षेत्यादिना ।

रा० कृष्णः—प्रताप ! केयं भवतोऽनुदारता
　　　　　　विधर्मिणो रक्षसि यन्न च प्रजाः।
　　　　स्वातन्त्र्यरक्षासु दृढव्रता वयं
　　　　　　क्व याम कं वीरमुपाश्रयेम वा ॥ १५ ॥

सालुम्ब्रः—रणाङ्गणेऽनारतमुत्सवप्रियं
　　　　　　साँगाह्वयं तं स्वपितामहं स्मरेः।

आर्याणां गौरवरक्षा, न खलु मेवाडप्रदेशमात्रस्य गौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति किन्तु सर्वेषामस्मदादीनामपि गौरवरक्षा चिरस्थायिनी भविष्यति। एतेनास्माकमेव प्रतिष्ठालाभ इति स्वकीयमेव कार्यं तत्स्वीकृतौ ध्वनयति। इदमार्याणामस्माकमेव कार्यमिति कृत्वा सर्वे प्रतापाभिमुखं क्रियाविशेषणमेतत् उपतिष्ठन्ते। 'उपतिष्ठन्ते' इत्यत्र 'अकर्मकाच्च' इत्यात्मनेपदम्। प्रथम रावतकृष्णस्तत्प्रश्नानुपूर्वकं त सज्जीकरोति—

प्रतापेति। हे प्रताप! भवतः इय का अनुदारता, न ह्येतादृश्यनुदारता भवादृशेषूचिता भवति। का इत्यनेन सखेदं विमर्षति। अथ त्वं वदेः नाहमनुदारतां करोमि किन्तूदारभावात् राज्यमपि त्यक्त्वा विपिनं व्रजामीति तदुदारतां परिहरन्स्वाभिमतामुदारतां दर्शयति (विधर्मिण इत्यादि) सुगमम्। रक्षासु दृढव्रता वय क्व याम। वीराश्रयिणामस्माकमन्यद् गतिस्थानं नास्तीति कुत्र वय तिष्ठेम। त्वया कातर्ये कृते अकालमरणमेवास्माकं भविष्यतीति व्यज्यते। अथैवं वदेरन्यं वीरमनुयात, तत्र आह। क वीरं वयमुपाश्रयेम। यदि त्वदतिरिक्तोऽन्यो वीरोऽस्ति तर्हि त्वमेव तन्नामोच्चारय। एतेन त्वदतिरिक्तस्य अस्मदधिकस्य तथाभूतवीरस्य अभाव एवेति बोध्यते। तस्मादस्माकमकालमरणं मा भूदित्यस्मासु दयां विधाय स्वामिपेकं स्वीकुरुष्वेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथ सालुम्ब्रः प्रतापं प्रोत्साहयन्नाह—रणाङ्गणे इति। अनारतं-सततमेव, रणाङ्गणे—रण एव अङ्गणं तत्र, उत्सवप्रियम्—प्रिय उत्सवो यस्य तम्। 'वा प्रियस्य' इति वैकल्पिकः प्रियेत्यस्य पूर्वनिपातः। साँगाह्वयं-'साँगा' इतिनामकं तं प्रसिद्धं स्वस्य आत्मनः पितामहं स्मरे.। यः सदैव रणाङ्गणमेवोत्सवस्थानममन्यत तं लोकविख्यातं साँगा स्मरेरिति भावः।

म्लेच्छाधिपादार्यगुरुत्वरक्षणे
यदीययत्नः सफलत्वमाययौ ॥ १६ ॥

प्रता०—(पुनरुत्तरार्द्धं पठति ' संघर्षात्स्वजनेष्वित्यादि ')

झालावरनरेशः—कोऽयमस्थाने उद्वेगः। कथं नाम स्वजनेषु संघर्षः, त्वमेवास्य देशस्याधिपत्ये योग्योऽसीत्यस्माभिः सर्वैर्मन्यते।

जातोऽहंपूर्विकायां मम सुभटगणो धैर्यशौर्यादियुक्तो
म्लेच्छानामुत्तमाङ्गान्यधिसमरमटन्खण्डशो यो व्यधत्त।

एतेन पूर्वजानामनुसरणं श्रेयस्करं धर्मसाधकं चेति बोध्यते। यदीययत्नः-यत्सम्बन्धी प्रयत्नः, म्लेच्छाधिपात्-म्लेच्छराजात्, बाबरनामकात्, आर्यगुरुत्वस्य रक्षणे-आर्यगौरवरक्षणे, सफलत्वम्, आययौ-तदीयो यत्नः सफलो बभूव। आर्यगौरवं रक्षितमभूदित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ प्रतापस्तथाकरणे गृहकलहाग्निं संभावयन् पुनरुत्तरार्द्धम्, 'संघर्षात्स्वजनेषु दास्यपदवीं मा गात् प्रजा मेऽधुना। बाढं वा मरणं भवेन्मम न वा स्याम्लेच्छदृष्टा धरा' इति पठति। अथ ग्वालियरनरेशस्तद्युक्तिं निरस्यन्नाह कोऽयमित्यादि।

अथ संघर्षसंभावना निरस्य पुनरतं प्रोत्साहयति—जातोऽहमिति। धैर्यशौर्यसाहससहिष्णुतादिगुणयुक्तः, अहंपूर्विकाया जातः "अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः, अहं पूर्वं युद्धाय गमिष्यामि, अहं पूर्वं युद्धाय गमिष्यामि इत्येवंरूपेण जातः समुत्पन्नो यो लोकोत्तरशौर्यशालितया प्रसिद्धः, मम सुभटानां गणः-सैनिकानां समुदायः, अधिसमरम् अटन् म्लेच्छानां यवनानाम्, उत्तमाङ्गानि तेषां मस्तकानीत्यर्थः, खण्डशः व्यधत्त। सर्वः समस्तः सः पूर्वोक्तः सुभटगणः, सूर्यं-सूर्यं भित्त्वा, प्रलयम्-अपुनरावर्तिनाशम्, उपगतः-प्राप्तः, मुक्तोऽभूदित्यर्थः। उक्तं हि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिहतश्च यः"। निघ्नत्वम्-अधीनता, नैव प्राप्तः। म्लेच्छानामेव अधीनो नाभूदित्येव न, किन्तु कस्यापि अधीनो नाभूदिति भावः। तत्

सूरं भित्त्वा स सर्वः प्रलयमुपगतो नैव निम्नत्वमाप्तो-
युष्माभिर्गौरवं तद् यवनरणभिया हेलया नाश्यते किम् ॥१७॥

प्रतापः—नाहं रणाद् बिभेमि । यदि मत्कृते आर्याणां गौरव-
रक्षेति भवतां निश्चयस्तदाऽहं सर्वस्वत्यागेनापि
आर्यगौरवं रक्षिष्यामीति प्रतिजाने ।

सर्व—साधु साधु स्ववंशानुचरितमेव प्रतिज्ञातम् ।

मन्त्री—अथेदमप्यस्माकं वक्तव्यम्, यन्मेवाडदेशाधिपतित्वे-
नहि नहि आर्याधिपतित्वे-भवतामेवाधिकार इति अत्र-
भवन्तं भवन्तमेवाभिर्पिपत्तामः ।

गौरव-स्वातन्त्र्यरूप गौरव, युष्माभि, शौर्यधैर्यप्रसिद्धै. । पूज्यत्वात् बहुवचनम्, यवनरणभिया-यवनाना संग्रामभयेन, हेलया अनादरेण, किं नाश्यते । एतेन न ते त्वा जेतु समर्था इति सूच्यते । तस्मात् भय त्यक्त्वा सज्जीभूय स्वातन्त्र्यगौरवं रक्षेति भाव ॥ १७ ॥

प्रतापः स्वाभिमत प्रकटयति-नाहमित्यादिना । यदि 'मत्कृते' मया कृते-मत्कृते, 'सुप्सुपा' तृतीयेनि योगविभागाद्वा समास. । मया कार्ये कृते इति युष्माक निश्चयस्तर्हि अहं सर्वस्वत्यागेन-राज्यादिसमस्तवस्तुत्यागेन, आर्यगौरव रक्षिष्यामि, न खलु आत्मगतमेव गौरव प्रतिपालयिष्यामि किन्तु परगतमपि गौरव रक्षिष्यामीति प्रतिज्ञास्वरूपमुक्तम् ।

स्ववंशेति । स्ववंशस्य अनुचरितमेव, यथा त्वत्पूर्वजेन सांगानृपेण प्राणपणेन आर्यगौरवरक्षा कृता तथैव त्वयाऽपि प्रतिज्ञातम् । एतेन त्व सांगानृपादप्यधिकतर गौरव प्राप्स्यसीति बोधित भवति । अस्माकमिति । न खलु ममैव किं तु सर्वेषामस्माकम् । किं वक्तव्यमित्याह मेवाडेत्यादि । अथ त्वरया भ्रमाद्वा उच्यमाना मेवाडदेशमात्रता ससंभ्रम निरस्यति—नहि नहीति मेवाडदेशमात्राधिपतित्वे भवतामधिकार इत्येव न, किन्तु समस्तभारतवर्षे विद्यमानानामार्याणामधिपतित्वे भवतामधिकारः, ततश्च त्वमेव आर्याधिपतिरिति सूचित भवति । एतेन लोके 'हिन्दूपति-' रिति प्रसिद्ध्यमान नाम बोधित भवति । भवन्तमेव न त्वन्यम् । अभि-

प्रतापः—यथा भवद्भ्यो रोचते । न मे विप्रतिपत्तिः ।

(ततो रावतकृष्णग्वालियरनरेशप्रभृतयः प्रतापं सिंहासने उपवेशयन्ति, पुरोहितश्चाभिषिञ्चति ।)

पुरो०—

आर्यस्थितीनां परिरक्षणार्थमसिव्रते त्वामभिषेचयामः ।
विजित्य शत्रूनखिलां स्वगोत्रां गोत्रानुगां त्वं प्रतिपालयस्व॥१८॥

इत्याशिषं ददाति ।

(ततो देशकुलाचारानुरूपं सर्वे उपायनान्युपहरन्ति ।)

(अथ वैतालिकौ प्रविशतः ।)

षिषिक्षामः—वयं सर्वे अभिषेक्तुमिच्छामः । सोपसर्गत्वात् 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' इति षत्वम् । अथ प्रतापः संघर्षभिया स्वाभिषेके ताटस्थ्यं प्रकटयति-यथा भवद्भ्यो रोचते । यदि भवन्तः सर्वेऽप्यैकमत्येन मामभिषेक्तु-मिच्छन्ति तर्हि अभिषिञ्चन्तु । मम विप्रतिपत्तिः—स्वाभिषेके विरोधो नास्ति । एतेन मामेवाभिषिञ्चन्तु इति ममाभिनिवेशोऽपि नास्तीति स्फुटं व्यनक्ति । अभिषिञ्चतीति—सजलेन कुशत्रयेण वैदिकमन्त्रेणाभिषिञ्चति ।

पुरोहितः पुष्पैराशिषं ददत् पठति—

आर्यस्थितीनामिति । आर्याणां स्थितयः ब्राह्मणादिजात्यवस्थानानि, अथ वा स्थितयः मर्यादा व्यवहारा इति तासां परिरक्षणार्थं-परितः सर्वतोभावेन रक्षणार्थम् , एतेन स्वगतपरगतानां व्यवहारविरुद्धानामाचाराणां रक्षणं सूचितं भवति, असिव्रते—खड्गव्रते, त्वामभिषेचयामः । आर्यव्यवहारलोपिनं खड्गप्रायश्चित्तेन शोधय, अत्राशे त्वामधिपतित्वेन स्थापयामः । एतेन मानसिंहेन सह विरोधकरणं बीजरूपेण स्थापितं भवति । त्वं शत्रून् विजित्य, अखिला—समस्ता, गोत्रानुगा—वंशपरंपरानुयाता, स्वगोत्रा स्वपृथ्वीं, प्रतिपालयस्व । सति कष्टेऽपि ता मा त्याक्षीरिति भावः । एतेन भाविसकलयुद्धविषयः, कष्टसहनेऽपि स्वदेशरक्षा, पुनर्युद्धेन स्वभूमिप्राप्तिरित्यादि बीजरूपेणोपक्षिप्यते ॥ १८ ॥

प्रथमः-राजंस्त्वत्सुभटासिकृत्तयवनासृङ्मांसमज्जाकुल-
म्लेच्छानीकपलायनार्तनिनदव्याप्ताः समाः स्युर्दिशः ।
निःशङ्कप्रसरन्मनोज्ञविभवभ्राजिष्णुलक्ष्मीलस-
त्त्वत्कीर्तिप्रयतावदातमखिलं भूमण्डलं भासताम् ॥१६॥

आशिषमिति । अप्राप्तप्रार्थनमाशीः, तद्रूपाणि पूर्वोक्तभावार्थ-सूचकानि पुष्पाणि ददाति । कुलाचारानुरूपमिति । भिल्लजातीयाः स्वरुधिराक्तं शरमुपहरन्ति, एतेन स्वरुधिरदानेन त्वामनुचरिष्याम इति बोधयन्ति । क्षत्रियाः खड्गमुपहरन्ति, खड्गसाहाय्येन त्वामनुचरिष्याम इति सूचयन्ति । विशः रूप्याणि, ततो धनेनानुचरिष्यामः, अन्ये च साष्टाङ्गप्रणामादिना स्वशरीरेण प्राणपणेन त्वामनुचरिष्याम इति सूचयन्ति ।

तत्र प्रथमो वैतालिकः पठति । राजन्निति । हे राजन् ! तव सुभटानामुत्तमवीराणां ये असयः खड्गास्तैः कृत्ताः-छिन्ना ये यवनास्तेषामसृग्मांसमज्जाभिराकुलं व्याप्तं यत् म्लेच्छानीकं गरुडसर्पाद्याकारेण स्थितम् अकबरसैन्यं तस्य पलायने-पराङ्मुखीभूय धावने, यः आर्तनिनदः-दीनशब्दः, तेन व्याप्ताः, समाः-सर्वा दिशः स्युः । यथा भयेन विह्वलाः पलायमाना लोका दिग्भ्रमेण सर्वतो गच्छन्ति तथैव यवनसैनिका भयग्रस्ता गच्छन्तु । तथा निःशङ्कम्-अप्रतिहतबाधं यथा स्यात्तथा, प्रसरन्-विस्तारमाप्नुवन्, यो मनोज्ञविभवः-शोभमानैश्वर्यम् तस्य भ्राजिष्णुलक्ष्म्या-देदीप्यमानशोभया, लसन्ती मध्ये-विद्युदिव द्योत-माना, या त्वत्कीर्तिस्तया प्रयतं-पवित्रम्, अवदातं-धवलम्, अखिलं-समस्तं, भूमण्डलम् भासताम् । शुभकर्मभिः शोभतामिति भावः । शुभ्रा त्वत्कीर्तिः समस्तभूमण्डले प्रसरत्विति तात्पर्यार्थः । अत्र पूर्वार्धेन भाव्य-मानयुद्धविजयो बीजरूपेणोपक्षिप्यते । अपरार्द्धेन विजयसमुद्भूतप्रताप-यशोऽवस्थानं बोध्यते । यद्यत्र पद्ये—

राजंस्त्वत्सुभटासिकृत्तयवनासृङ्मांसमज्जाकुला-
नार्यानीकपलायनार्तनिनदव्याप्ताः समाः स्युर्दिशः ।

पुनः—द्विद्वेषिभूमिपतिमानविलोपधीरो
म्लेच्छाधिनाथबलनाशनसिद्धवीरः
आर्यप्रभुः समरविज्ञसभाधुरीणो
मेवाडराड् जयतु युद्धकलाप्रवीणः ॥ २० ॥

द्वितीय—स्वहिन्दुधर्मरक्षणे जये क्षये कृतेक्षणः
क्षमाधिनायकोऽपि यः क्षमास्वरूपतां दधे ।

नि शङ्कप्रसरत्सुवल्गुविभवभ्राजिष्णुलक्ष्मीलस-
त्स्वस्कीर्तिप्रयतावदातमखिलं भूमण्डलं भासताम्॥इति पठेत्,
तदा सन्ध्यक्षररहितमिदं पद्यं भावगाम्भीर्यमजहदेव शब्दचित्रतामपि व्यञ्जयति । पद्यं सन्ध्यक्षरमिति शङ्का । किन्तु किञ्चिद्दार्ढ्यशैथिल्यान्न तथोक्तम् ॥ १६ ॥ अथवा
प्रत्यर्थिदमावलारिप्रसृमरनिबिडध्वान्ततिग्मांशुराशि
र्दुर्धर्षारिक्षितीशक्षितिधरदमनप्राप्तजम्भारिरूपः ।
सन्नीतिव्रातवल्लीविपिनघनघटावारिवाहानुकारी
जीयादार्यस्थितीनां यवनपतिनयाद् रक्षकोऽयं प्रतापः ।
सन्ध्यक्षररहितमिदं पद्यम् ॥ २० ॥

विद्वेषिणो ये भूमिपतयो राजानस्तेषां मानविलोपे धीरः प्राज्ञः तथा म्लेच्छाधिनाथस्य—अकबरस्य बलनाशने सामर्थ्यनाशने सैन्यनाशने वा सिद्धवीरः, सिद्धश्चासौ वीरः सिद्धवीरः, अप्रतिहतवीर इत्यर्थः । आर्यप्रभुः आर्याणां प्रभुः, अनेनैव आर्यसत्त्वाऽस्तीति भावः । समरविज्ञानां या सभा तत्र धुरीणः, सभानायकः । एतेन हल्दीघाटिकयुद्धे आक्रमणपरामर्शे अस्य नायकत्वं बीजरूपेण उपक्षिप्यते । युद्धकलायां प्रवीणो मेवाडराड्—मेवाडदेशाधिपतिः,जयतु—सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् ॥२१॥

द्वितीय पुनराह—स्वहिन्दु इति । हिनस्ति पापानीति हिन्दुः । हिसि धातोरौणादिके दुप्रत्यये सकारलोपे च कृते हिन्दुरिति । धर्माधर्मव्यवस्थाया सनातनधर्मिणामेव कार्यत्वात् पापनाशकत्वं नेतरेषामित्याद्यस्मत्कृतशङ्करविजयनाटके वर्णितम् । स्वस्य—आत्मनः, स्वेषाम्—आत्मीयानां वा,

कलाकलापकोविदो रणाग्रणीर्दयानिधिः
प्रतापसिंहभूपतिः स एष सर्वदा जयेत् ॥ २१ ॥
स्वसौख्यनिःस्पृहः सदा विपन्नदुःखनाशने
विरोधिमानमर्दको महाहवे समुद्यतः ।
स्विकां स्थितिं दृढां युधा चकार यश्च भारते
प्रतापसिंहभूपतिः स एष सर्वदा जयेत् ॥ २२ ॥
अखण्डभूमिमण्डले प्रभूतकीर्तिराशिमान्
धराधरेन्द्रमन्दिरे तवैव गीयते स्तवः ।

हिन्दुधर्मस्य, रक्षणे-मर्यादाव्यवस्थादिपालने, क्षणे क्षणे-प्रतिक्षणमित्यर्थः, कृतेक्षणः-कृतम् ईक्षणं येन स कृतेक्षणः, दत्तदृष्टिः। क्षमाया अधिनायकः पृथिवीपतिरपि यः क्षमास्वरूपतां शान्तिस्वरूपतां दधे। कलाकलापस्य चतुःषष्टिसंख्याकानां मतान्तरेण द्वासप्ततिसंख्याकानां वा कलानां यः कलापः समूहस्तस्य कोविदः-विद्वान्। नृत्याद्यनुपयुक्तकलानां कोविद एव, न तु तत्कर्तेति कोविदपदस्वारस्येन बोध्यते। रणे संग्रामे, अग्रणी। तथापि दयानिधिः-दयासमुद्रः, स एष प्रतापसिंहभूपतिः सर्वदा जयेत्-सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम्। इहापि प्रार्थनमेवेति ॥२१॥

पुनराह-स्वसौख्येति। विपन्नस्य दीनस्य यद् दुःखं तस्य विपन्नदुःखस्य नाशने-विपन्नसकलविदुःखनिवारणे, सदा-सर्वदा, स्वसौख्ये निःस्पृहः स्वसुखनिरपेक्षः। तथा विरोधिना-प्रतिकूलाचारिणा मानमर्दकः, अथवा विरोधिनो मानस्य-मानसिंहस्य मर्दकः, महाहवे-युद्धे, समुद्यतः समुद्युक्तः यः भारते भारतवर्षे स्विकाम् आत्मीयां, स्थितिं मर्यादां वा, युधा संग्रामेण, दृढां चकार, स एष प्रतापसिंहभूपतिः सर्वदा जयेत्। 'स्विका'मित्यत्र 'मकैषा' इति न विकल्पः, आतः स्थानिकस्यैवाकारस्य तद्विषयत्वात्। ततश्च स्विका परमस्विकेत्यादौ नित्यमेव, सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतस्वशब्दोऽस्य विषय इति ॥२२॥

पुनराह—अखण्डेति। अखण्डभूमिमण्डले-समस्तपृथ्वीमण्डले, प्रभूतकीर्तिराशिमान्-अतिशयितकीर्तिः, धराधरः-शेषः इन्द्रः देवेन्द्रः, तयोर्मन्दिरे इत्यत्र जातित्वादेकवचनम्, पाताले स्वर्गे चेत्यर्थः।

सुरेन्द्रकेन्द्रमुत्सवाकुलं यदीयसन्नुतौ
प्रतापसिंहभूपतिः स एव सर्वदा जयेत् ॥ २३ ॥
(ततः किञ्चिद् गातुं नर्तितुं च आयियासति वाराङ्गना ।)

प्रतापः—केयम् ।

प्रधानमन्त्री—महाराज ! इयं नर्तितुमागता वाराङ्गना ।

प्रतापः—आः ! किमनया ?

लुण्ठन्ती विषये स्वके युवजनान् व्यामोह्य रूपं धनं
वंशस्योपरि नर्तनं विदधती हीनेति निस्सार्यताम् ।

यद्वा धराधरेन्द्रस्य मन्दिरे-हिमालयाधिपतिगृहे,अथवा-धराधरेन्द्रे यन्मन्दिरं कैलासस्तत्र तवैव स्तव –स्तुतिः, गीयते । यदीयसन्नुतौ–यस्य वास्तविकस्तुतिविषये, सुरेन्द्रकेन्द्रम्–इन्द्रस्य प्रधानस्थानम्, उत्सवाकुलम्–विविधोत्सवव्याप्तम् , कश्चिच्च यस्य शौर्यं, कश्चिन्न्याय, कश्चिद् गम्भीरता, कश्चित्पाण्डित्य, कश्चित्सत्यतामालोक्योत्सवमातनोति । एवं यस्य सन्नुतौ सुरेन्द्रकेन्द्रमुत्सवाकुल स एषः प्रतापसिंहभूपतिः सर्वदा जयेत् ॥ २३ ॥

तत इति । सा पूर्वमायाता वाराङ्गना किंचिद् गानाय नर्तनाय च आयियासति-आयातुमिच्छति । प्रतापस्ता वारयितुमिच्छन्निव कथयति–केयमिति । इयं वाराङ्गनेति सत्यपि ज्ञाने इह सता शूराणा सघट्टे अस्या आगमन न संभवतीति नानया वाराङ्गनया भवितव्यमित्यभिसधाय इह स्त्रिया अपि प्रवेशो न युज्यत इति तामपि वारयन् कथयति–केयमिति ।

अथ मन्त्री तदभिप्रायमवगच्छन् कथयति–राज्याभिषेके महति महोत्सवे प्रथानुरोधेन नर्तितुमागता इय वाराङ्गना । पुनः प्रतापः कथयति–आः किमनयेति । आः इति अत्यन्तदुःखप्रकाशने खेदे च । म्लेच्छैराक्रान्ते पराधीने च सति भारते कथं महोत्सवस्यावसरः, उत्सवस्याप्यवसरो नास्तीति तस्या आगमनं सर्वथा निष्प्रयोजनमित्याह–अनया किम् । अनया किञ्चिदपि प्रयोजन नास्ति । अथ तस्याः कृत्येषु दोषं प्रदर्शयन् तत्स्थितिमप्यसहमानः कथयति ।

लुण्ठन्तीति । इदमः प्रक्रान्तत्वात् इय स्वके विषये स्वकीये देशे,

5A255

स्थानेऽस्याश्च परस्य देशविभवावाहृत्य तत्स्वामिन,
स्वीय भृत्यमसौ विधाय भवतः खड्गो रणे नृत्यतु ॥२४॥

'नीवृज्जनपदो देशविषयौ तूपवर्तनम्' इत्यमर । अथ च स्वके स्वकीये, विषये आलिङ्गनादिके, युवजनान् सग्रामसमर्थान्, अथ च विषयसमान् व्यामोह्य सदसद्विवेकासमर्थान् विधाय रूप धन-प्रत्यासत्त्या तेषा युवजना नामेव रूप धन च लुण्ठन्ती, स्वार्गिकरोगादिना रूप, हावभावादिभिर्धन च अपहरन्ती । वशस्य-महादण्डाकारेण स्थितस्य वशस्य उपरि, नर्तन विदधती, अथ च वशस्य-स्वकुलस्य उपरि नर्तन विदधती स्वकुलमप्य वगणयन्ती । हीना नीचजातीया इति हेतोर्निस्सार्यताम्, इत स्थानादि ति शेष । अत्र प्रथमपदेन स्वकीययोद्धृप्रतिबन्धकत्व द्वितीयपदेन अकार्यकारित्वमिति कृत्वा नि सारणमस्या विधीयताम् । तर्हि को नृत्यतु इत्याह-अस्या स्थाने, परस्य अन्यस्य, शत्रोर्वा देशविभवौ आहृत्य तत्स्वामिन स्वीय स्वकीय भृत्य विधाय असौ प्रत्यक्षविषयीभूतो, भवत खड्गो रण नृत्यतु । सा च स्वदेशे एव, तत्रापि व्यामोह्य, अथापि रूप धन च लुण्ठन्ती, तेषामज्ञानदशाया चोरयन्ती, भवतः खड्गस्तु शत्रोर्नतु स्वकीयस्य, देश समस्तविभव च, राज्यमेवेत्यर्थः । आहृत्य हठादपहृत्य न तु व्यामोह्य, नापि आहरन् । अत्र ल्यप्प्रत्ययेन आहरणानन्तरमपि योद्धृप्रतीत्यर्थं तत्रावस्थान बोध्यते । तद्देशस्वामिन -स्वकीयभृत्य-विधानात् तद्देशस्वामिन अनुगामित्व, खड्गस्य च स्वभृत्यतया तत्पोषकत्व मवगम्यते । तेन न्यायकारित्व खड्गस्य व्यज्यते । इय वशस्योपरि नृत्य-तीति महानीचत्व बोध्यते, भवत खड्गो रणे शत्रूणामुपरि नृत्यतु । खड्गस्य पुस्त्वात्पुरुषकृतनर्तनमतिचपल सर्वतोभावेन प्रवर्तमान चेति शत्रूणा नाशोऽधिकतया बोध्यते । अत्र च वाराङ्गनाया कार्याणामधम-त्वादस्य चोत्तमत्वात्तत्स्थाने खड्गस्य नर्तनमुचितम् । तेन च भाविसग्राम सूचनम् ॥ २४ ॥

अथ पुन प्रताप शौर्याभिनिवेशेन स्वखड्ग दर्शयन् कथयति—लुञ्चन्तीमिति । स्वप्रदेशे-स्वकीये प्रकृष्टे देशे पत्तने इत्यर्थ, अथ च

पश्य—

लुञ्चन्तीं स्वप्रदेशे परविभवगतान् वंशमध्ये व्रजन्तीं
शून्ये हस्तौ क्षिपन्तीं क्षितिशिरसि रयादुत्पतन्तीं पतन्तीम् ।
निस्सार्यैनां ममैषा परविषयगतां संपदामानयन्ती
मूर्ध्नोऽरीणां हरन्ती चरतु रिपुकुलस्योत्तमाङ्गेऽसिधारा॥२५॥

(इति स्वकीयं खड्गं निष्काश्य दर्शयति)

(ततः सा वेश्या तत्स्थानात् किञ्चिदपसरति ।)

स्वकीये प्रकृष्टे देशे स्थानविशेषे इत्यर्थः, परविभवगतान्, अनायासलब्धसंपत्तीन् लुञ्चन्तीम् । अनायासलब्धसंपत्तयो वेश्यागामिनो भवन्तीति तेभ्यः सर्वतो भावेन धनं निष्काशयन्तीम् । वंशमध्ये-वेणुदण्डे, व्रजन्तीम् गच्छन्तीम् । अथ च-वंशमध्ये-स्वकुले, व्रजन्तीम्-अटन्तीं कुलटामित्यर्थः शून्ये-द्रव्यादिरहिते, असमर्थे वा पुरुषे हस्तौ क्षिपन्तीम् , द्रव्यादिरहितमसमर्थं वा गलहस्तेन निष्काशयन्तीम्, तथा क्षितिशिरसि-पृथिव्या उपरि, रयात्-वेगेन, उत्पतन्तीम्-नृत्यविशेषे तथा विधानात् , तथा पतन्तीम्-भावबोधनार्थं निपतन्तीम् । अथवा-क्षितेः मृत्योः, शिरसि रयात् उत्पतन्तीं पतन्तीं च निर्भीकामित्यर्थः । अथवा-क्षितौ नाशे, शिरो, यस्य तस्मिन् क्षयोन्मुखे उत्पतन्तीम्-उपरि आगच्छन्तीं पतन्तीं च, सर्वद्रव्याकर्षणार्थमित्यर्थः । एवं दोषविशिष्टामेनां निस्सार्य परविषयगतां-शत्रुदेशस्थितां, संपदां-सम्पत्तिम् , आनयन्ती—हठादपहरन्ती, अरीणां—शत्रूणां मूर्ध्नः शिरासि हरन्ती एषा मम असेः खड्गस्य, धारा, रिपुकुलस्य उत्तमाङ्गे मस्तके चरतु । 'मम असिधारा' इत्यत्र ममेत्यस्य असिना सह संबन्धः, ततश्च देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवन्नित्यसाकाङ्क्षत्वादसमासेऽपि तेनैव सहान्वयो बोद्धव्यः । भिन्नार्थत्वात्परशब्दे न कथितपदत्वदोषः, अत्रापि तस्या निःसारणपूर्वकं प्रकारान्तरेण तत्कार्याणां कथनात् भावियुद्धोद्योगः सूच्यते । परविषयगतां संपदामानयन्तीत्यनेन च पञ्चमाङ्कगतं लुण्ठनादि कार्यं बीजरूपेण उपक्षिप्यते ॥ २५ ॥

प्रतापः—(भूमिं स्पृष्ट्वा प्रणमति प्रतिजानीते च ।)

यावन्मे धमनीमुखेषु रुधिरक्लेदोऽपि सन्तिष्ठते
मांसं वाऽस्थनि तिष्ठति क्वचिदपि प्राणाः शरीरे स्थिताः ।
तावन्म्लेच्छपतेः कथंचिदपि न प्राप्स्याम्यहं निघ्नताम् ।
स्वातन्त्र्यस्य पदं समस्तवसुधां नेतुं यतिष्ये भृशम् ॥२६॥

(अथ सर्वे स्वशस्त्राण्युद्यम्य प्रतिजानते)

सर्वे—एवं सति वयं सर्वे त्वदायत्तजीवनाः ।

अथ प्रतापो हस्तेन भूमिं स्पृष्ट्वा तत्रस्था भूम्यधिष्ठायकदेवता प्रणमति । हस्तेन पादं स्पृष्ट्वेव उत्तमप्रणामव्यवहारो भवतीति तमेवासौ विदधाति । प्रतिजानीते चेति । वक्ष्यमाणां प्रतिज्ञां च करोति । यावन्मे इत्यादि । यावत्पर्यन्तं मे धमनीमुखेषु-नाडीप्रान्तेषु, रुधिरक्लेदोऽपि-रुधिरस्यार्द्रताऽपि, सन्तिष्ठते-विद्यते इत्यर्थः । अथ रुधिरार्द्रतानाशेऽपि स्वस्थता संभवतीत्याह-मांसमिति । वा-अथवा यावत् अस्थनि क्वचिदपि मांसं तिष्ठति विद्यमानमित्यर्थः । रक्तमांसविनाशेऽपि जीवति सत्याह । किं बहुना-यावत् प्राणाः शरीरे स्थिताः विद्यमानाः सन्ति, तावत् अहम्-अहमिति-स्वाभिमानसूचकम्, क्षत्रियकुलोत्पन्नः आर्यजातीयोऽहं प्रतापः, कथमपि-केनापि सामादिप्रकारेण, म्लेच्छपतेरकबरस्य, निघ्नताम्-अधीनता, न प्राप्स्यामि, किं तु समस्तवसुधा सम्पूर्णा पृथिवीं, स्वातन्त्र्यस्य पदं स्थानं, नेतुं-प्रापयितुं, भृशमत्यन्तं, यतिष्ये-यत्नं करिष्यामि । 'धमनी' ति 'नाडी तु धमनिः शिरा' इत्यमरः । अत्र 'सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके, इति ङीप् । 'संतिष्ठते' इत्यत्र 'समवप्रविभ्यः स्थः, इत्यात्मनेपदम्, 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' इति लट् । वसुधापदेन वसुधारकत्वाचस्याः स्वातन्त्र्य-प्रापणम् आवश्यकमिति सूच्यते ॥ २६ ॥

अथ प्रतापस्य प्रतिज्ञामाकर्ण्य उत्साहोद्रेकाद् वीररसपूर्णास्तत्रस्थाः सर्वेऽपि स्वशस्त्राणि उद्यीय प्रतिज्ञां कुर्वन्ति । तामेवाह-एवं सतीति । 'यदि म्लेच्छपतेरधीनता न प्राप्स्यामि, समस्ता पृथ्वीं च स्वातन्त्र्यपदं प्रापयितुं यतिष्ये' इति भवता निश्चयस्तर्हि वयं सर्वेऽपि 'त्वदायत्तजीवना'

किञ्च—

धर्मबिन्दुरपि यत्र शरीरात्तावकान्निपतितः समरे स्यात् ।
तत्र शोणितभवाः शतशः स्युः प्रत्यनीकपृतनासु तटिन्यः ॥२७॥

(ततः सभयमिव सा वाराङ्गना पुनरुपेत्य ।)

वेश्या—महाराज ! क्षमस्व माम् । अद्य प्रभृति अहं काषाय-वसना योगिनीवेषेण भिक्षामाचरन्ती शौर्यसंचारि-गानबलेन सहस्रशो वीरान् देशसेवार्थं सज्जीकरिष्यामि,

---

इति । तत्र आयत्तम्-अधीनं जीवनं येषां ते तथा, त्वदधीनजीवना । यत्र यथा अस्माकं जीवने प्रयोजनं स्यात् तत्र तथैव नियोजय, नैवास्माकं ननु नचेत्यादि किमप्यत्र वक्तव्यमस्ति ।

किं चेत्यादि । नैव अजाविकादय इव शौर्यरहिता अकिंचित्कराश्च वयं किं तर्हि इत्याह—धर्मबिन्दुरिति । यत्र—यस्मिन्, समरे—सग्रामे, तावकात् त्वदीयात् शरीरात् धर्मबिन्दुरपि निपतितः स्यात्—यदि निपतेत्, तर्हि तत्र समरे-तत्रैव सग्रामे इत्यर्थः । प्रत्यनीकपृतनासु शत्रुसेनासु, शोणितभवाः—प्रत्यासत्त्या शत्रुसैनिकानां रक्तोत्पन्ना शतशस्तटिन्यो नद्यः स्युः, भविष्यन्तीत्यर्थः । अत्र भवतः साधारणदुःखदशायां स्वेदबिन्दुनिपातेऽपि यदि वयमेवं करिष्यामस्तर्हि भवतः शरीरतो रुधिरनिपाते शत्रूणां किं करिष्याम इति तु वर्णनातीतमेवेति तेषामाशयः ॥ २७ ॥

सभयमिवेति । अपराधिनां हृदये स्वाभाविकमेव भयं भवतीति सभयमिव सा प्रतापसमीपे गत्वा कथयति । किं कथयतीत्याह—महाराजेत्यादि । काषायेति । कषायेण रक्तानि वस्त्राणि काषायाणि । काषायाणि वसनानि वस्त्राणि यस्याः सा, त्यक्तगृहकार्या विरक्तेत्यर्थः । अथ आजीवनोपायमाह—योगिनीवेषेण भिक्षामाचरन्ती 'भिक्षया आजीवनं प्रायश्चित्तमेवेति' प्रायश्चित्तं कुर्वती । अथ तत्फलमाह—शौर्येत्यादि । शौर्यसंचारिणः—शौर्यप्रादुर्भावकस्य, गानस्य बलेन । हठादिव शौर्योत्पादकेन गानेनेत्यर्थः । सहस्रशो वीरान्, देशसेवार्थं—देशस्वातन्त्र्यार्थं, सज्जीकरिष्यामि प्राणानपि त्यक्तुमुद्यतान् करिष्यामि । अन्यदप्याह—कातराणामपीति । युद्धवार्ताश्रवणमात्रतोऽतिकम्पितहृदयानामपि हृदये,

कातराणामपि हृदये दृढमतिप्रबलं शौर्यं संचारयिष्यामि,
नातः परं भवद्राज्ये कोऽपि कातर उपलप्स्यते ।
(इति पादयोः पतति ।)

प्रता०—उत्तिष्ठ, देशसेवार्थमेवमेव विधेहि ।

नेपथ्ये

साधु साधु सर्वे भवन्तो दृढसंकल्पाः सन्तु ।
(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्री म० म० मथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके राज्यपीठाधिरोहणं नाम प्रथमोऽङ्कः ।

किमुत अकातराणां हृदये । दृढमतीत्यादि । दृढा मतिर्यस्मिन् तत्, पराङ्मुखविचाररहितम् । अथवा-दृढम्-निश्चितम्, अतिप्रबलम्-अत्यन्तयुद्धाभिनिवेशयुक्तं, शौर्यं संचारयिष्यामि-प्रतिक्षणमुच्छलद्रक्तेषु अहं शौर्यमभिनिवेशयिष्यामि । किं बहुना, तथाभिमतादप्यधिकतरमहं संपादयिष्यामि । किं तदित्याह-नातःपरमित्यादि । अतः परम्-मम गमनानन्तरमेव प्रारभ्यमाणमरकार्योत्तरकालादनन्तरं भवद्राज्ये समस्तराज्येऽपीत्यर्थः, कोऽपि-एकोपि, कातरः नोपलप्स्यते सर्वथा कातराणामभावास्तस्प्राप्तिमसंभावियिनीमेव विधास्यामि । मा भ्रमस्व, इति एवं, कथयन्ती सती पादयोः प्रतापस्येति शेषः पतति ।

अथ प्रतापस्तामादिशति-उत्तिष्ठेति । स्वकार्ये सन्नद्धा भव । देशसेवार्थम्-एतेन पुण्यातिशयो बोध्यते, तथा हि एतत्कार्यसंपादनेन देशस्वातन्त्र्यलाभात्समस्तब्राह्मणक्षत्रियवैश्येतरेषां स्वत एव सेवा संपादिता भवति । एवमेव—यथा त्वया उक्तं तथैव, विधेहि ।

नेपथ्ये इति । कुत्राप्यनिर्दिष्टस्थाने स्थितः कश्चिद् देवो ऋषिर्वा कथयति । साधु साधु-अतिशोभनमिदं भवतां कार्यम् । दृढसंकल्पाः-अपरित्यक्तप्रतिज्ञा भवन्तः सन्तु । इत्याशिषं ददाति । अत्र आशिष्यर्थे लोट् । इत्याशिषोऽनन्तरं सर्वे निष्क्रान्ताः ।

इति श्री म० म० मथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीटीकायां राज्यपीठाधिरोहणं नाम प्रथमोऽङ्कः ।

द्वितीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(पितुः क्रियाकर्मनिवृत्तः सुखासीनः प्रतापः ।)

प्रतापः—(क इदानीं द्वारपाल इति ज्ञातुं घण्टिकां वादयति)

दौवारिकः—(प्रविश्य) जेदु जेदु महाराओ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—शक्तिसिंहमाह्वय ।

दौ०—जं देवो आणवेदि ।

यत् देव आज्ञापयति ।

(इति निष्क्रान्तः ।

दौ०—(शक्तिसिंहमुपसृत्य) महाभाय ! तत्थ महाराओ

महाभाग्य ! तत्र महाराजो

भवन्तं दट्ठुं अहिलसइ ।

भवन्तं द्रष्टुमभिलषति ।

अथ द्वितीयाङ्कमवतारयति । तत्र 'किमौर्ध्वदैहिक' मित्यादिना प्रथमाङ्के उन्नीतं पितुरौर्ध्वदैहिककृत्यकरणं 'पितुः क्रियाकर्मनिवृत्तः, इत्यादिना सूचयन्, 'आर्यस्थितीनाम्' इत्यादिना पुरोहितस्याशीर्वचनेनोपक्षिप्तमार्यमर्यादारक्षणं स्वकीयपृथ्वीपालनं च, 'खड्गो रणे नृत्यतु' इत्यादिना सूचितं भावियुद्धं भ्रातृसंग्रहादिद्वारेण तद्विजयोपायं च दर्शयति । पितुरिति । पितृसम्बन्ध्यौर्ध्वदैहिकसकलकर्मकरणानन्तरं, विरुद्धपक्षस्याभावात्, प्रजायाः स्वस्मिन्ननुरागाच्च सुखासीनः आर्यमर्यादारक्षणोपायं चिन्तयन् पूर्वं शक्तिसिंहमात्मानुयायिनं कर्तुमुपक्रमते । तत्र शक्तिसिंहमानेतुमनुचरमाह्वयति—क इदानीमित्यादिना । दौवारिकः, प्रभुर्माह्वयति इति प्रतापभावमवगत्य प्रविश्य, 'जयतु जयतु' इत्यादिना

शक्ति०—दौवारिक! महाराजं निवेदय, अनुपदमेवागच्छामि।
दौ०—जहा तुम्हाणं आणा।
यथा युष्माकम् आज्ञा।
(आगत्य प्रतापं निवेद्य निष्क्रान्तो दौवारिकः। यथास्थान-स्थितश्च।)
दौ०—(पुनः प्रविश्य) जेदु जेदु महाराओ, सत्तिसीहसहिओ
जयतु जयतु महाराजः, शक्तिसिंहसहितः
सालुम्बो समुवट्ठिओ।
सालुम्बः समुपस्थितः।
प्रतापः—प्रवेशय। (दौवारिकस्तौ निवेद्य प्रवेशयति।)
(यथास्थानं तिष्ठन्ति सर्वे)
(प्रतापः—उत्थाय सालुम्बं प्रणम्य शक्तिसिंहं हृदयेनालिङ्गति पुनः परावृत्य यथास्थानं तिष्ठति।)
प्रतापः—अस्थाने तस्मिन् दिवसि पित्रा क्रोधो विहितः।
शक्ति०—ममादृष्टमेव कारणम्, न किमपि तेषु वक्तव्यम्।
यतः—

स्वागमनं सूचयति। देव इति। अत्र देवो राजा। महाभाग्येति महत् भाग्यं यस्येति तत्सम्बुद्धौ। यतो महाराजस्त्वामाह्वयति,अतस्त्वमिदानीं महाभाग्य एव संजातः। द्रष्टुमभिलषति-एतेन तस्मिन् आदरातिशयो दृश्यते।

शक्तिसिंहः स्वस्य अदृष्टमेव कारणं मन्यमानः कथयति—ममादृष्टमेवे-त्यादि। अदृष्टमिति पूर्वार्जितधर्माधर्मादिजन्यं कर्म। तच्च फल-बलाज्जायमानं सामान्यापराधिन विशेषापराधित्वे परिणमयति। न किम-पीति। तेष्विति पूज्यत्वाद् बहुवचनम्। तस्मिन् पितरि, किमपि नैव वक्तव्यम्। दोषसत्त्वेऽपि पूज्यत्वात्ते दोषविषयतया नैवोच्यन्ते। तदेव दर्शयति। यत—यस्मात्कारणात्।

पूज्यानां चरितानि वाच्यपदवीं नायान्ति लोके क्वचित्
　कन्याया यतिवेशतोऽपि हरणे पार्थो बुधैः स्तूयते ।
ज्ञात्वेत्याचरितं दुरोदरमिदं भीमाग्रजेन स्वयं
　धर्मात्मा स निगद्यते, पितरि तज्ज्ञात्वैव संतुष्यते ॥ १ ॥

सालुम्न — नैवम्-अस्त्यत्र कश्चिद् गूढाभिसन्धिः,

पूज्यानामिति । लोके-जातित्वादेकवचनम्, लोकेषु सूक्ष्मविचार-शून्येषु जनेषु । यद्वा-लोके-संसारे क्वचिदपि पूज्यानां पूजनीयानां महात्मनामित्यर्थः, चरितानि-कृत्यानि, वाच्यपदवीं-वाच्यस्य निन्दाविषयतया कथनीयस्य, पदवीं-स्थानं, न आयान्ति न प्राप्नुवन्ति । तदेव दृष्टान्तद्वारेण समर्थयति—कन्याया इति । कन्यायाः-अनूढायाः, एतेन तस्या हरणे महापातकित्वं सूचितं भवति । यतिवेषतः, यतेः सन्यासिनो वेषतः बाह्याडम्बरेण, एतेन विश्वासयोग्यता तस्य दर्शिता भवति । हरणे हठात् गृहीत्वा पलायने । एतेन महानर्थकारित्वं तस्य सूचितं भवति । तथाहि-पूर्वं कन्याया हरणमेवानर्थजनकम्, तत्रापि अन्यवेषतः, अथापि यतिवेषतः । पुनरपि हरणं-हठात् गृहीत्वा पलायनम्, एवं सत्यपि, पार्थः-पृथाया अपत्यं पार्थोऽर्जुनः, बुधैः-विद्वद्भिः, स्तूयते-प्रशस्यते, साधारणपुरुषैः प्रशंसनं तु कथंचिद्भवेदपि परं तु स तु बुधैः स्तूयते, अत एवोच्यते पूज्यानां चरितानि वाच्यपदवीं नायान्तीति । अन्यदप्याह-भीमाग्रजेन-युधिष्ठिरेण, इदं दुष्टमुदरं-यस्येति दुरोदरं द्यूतक्रियामिति ज्ञात्वा स्वयम् आचरितम्, न तु परम्परया केनापि द्वारा सेवितम् । स युधिष्ठिरः, धर्मात्मा धर्ममूर्तिर्धर्मस्वरूपः निगद्यते । पितरि-पितृविषये, तज्ज्ञात्वैव संतुष्यते । अयं भावः-यथा युधिष्ठिरो द्यूतसेवनेनापि धर्मात्मा निगद्यते तथा पिता उदयसिंहोऽपि पुत्रप्राणदण्डकारकः उचितकार्येणेति भावः । अत्र अनुचितकार्यकारित्वात्तेषां निन्दा व्यज्यते ॥ १ ॥

अथ तदभिन्नेत्यस्यपन्द्रसालुम्नः कथयति—नैवमिति । यथा भवद्भिः-छेदेनापराधात्प्राणदण्डोऽनेन विहित इति भवद्भिरवगम्यते न तथाऽस्ति । किन्तु अत्र प्राणदण्डविषये कश्चित्प्रधानभूतः गूढः-अत्यन्ततिरोहितः, अभिसन्धिर्मारयेच्छाविषयकं रहस्यमस्ति । किं तदिति दर्शयति—

अन्यदपि कारणम्—विचारितं तेनासीत्-यज्जगन्मल्लाय राज्यप्रदानसमये अतिशयितविक्रमशौर्यसाहसादिगुणमापन्नोऽयमेवौद्धत्यात् परिपन्थी भविष्यतीति तेन तथाऽऽचरितम्।

प्रता०—युज्यते चैवम्। शक्तिसिंह! दिष्ट्या सालुम्बेन रक्षितोऽसि। अयं ते प्राणरक्षकः पिता। यतः—

चाण्डालहस्तेषु समर्पितं त्वां
को नाम निष्काशयितुं समर्थः।
धैर्यक्षमाशालिमनाः प्रवीर
सालुम्बतातो यदि नान्तरा स्यात्॥२॥

सालुम्ब कारणान्तर दर्शयति—विचारितमित्यादि। सुगमम्। अथ प्रताप पूर्वोक्तकारण दृढ मन्यमान कथयति—युज्यते चैवमिति। एव विधकारणेन तु प्राणदण्डाज्ञाकरण युक्तियुक्त भवति। अथ प्रतापः शक्तिसिंह कथयति। शक्तिसिंह! त्व दिष्ट्या शुभकर्मोदयात् रक्षितोऽसि। प्राणरक्षक इति। अयं तव भयत्राता पिताऽस्ति। तदेव दर्शयति—

चाण्डालेति। चाण्डालाना हस्तेषु एकस्य चाण्डालस्य हस्तात् अनुनयोत्कोचदानसाहसादिना निष्काशयितु शक्यते परंतु बहूना चाण्डालाना हस्तेभ्य कथमपि नैव निष्काशयितु शक्यते। समर्पितं-सम्यक् प्रकारेण अर्पित, स्वकीयविश्वस्तपुरुषद्वारेण दत्त त्वा को नाम निष्काशयितु चाण्डालहस्तेभ्यो रक्षितुमित्यर्थ। समर्थोऽस्ति। अद्यापि तथाभूतसामर्थ्यवान्नास्तीत्यर्थ। यदि धैर्य-व्यवसाये स्थिरता, उक्तं हि 'व्यवसायादचलन धैर्य विघ्ने महत्यपि'। क्षमा सहिष्णुता ताभ्या शालि शोभमान, मनो यस्य स। एतेन उचितानुचितकथनेऽपि तत्सहनपूर्वकमस्य अभिमतकार्यकारित्व बोध्यते। तथा प्रवीर—प्रकृष्टो वीर प्रवीर, एतेन शौर्यपूर्वकमपि अस्य कार्यसंपादने शक्तिर्बोध्यते। सालुम्बतात—पूज्यत्वाद् वृद्धत्वाच्च तातस्थानीय सालुम्ब, पितु समकालिकोऽय

शक्ति०—एवमेवैतत्।

प्रता०—सालुम्ब ! किमाज्ञापयस्येनम्।

सालु०—(मनसि) ममौरसः पुत्रः संजात एव। अयमत्र स्थितः परमैश्वर्यभोक्ता भवतु।

(प्रकाशम्) अयं भवतां स्थापनिका। यथा भवद्भ्यो रोचते।

प्रता०—अयमस्मत्सविधे स्थितोऽस्मदीयसव्यबाहुरिव सर्वकार्येषु सहायको भवतु।

सालु०—एवं सति

दृप्यद्द्विपत्क्षितिपालसेना—

समुद्रकुम्भोद्भवशक्तिरेषः

सामन्तः। अन्तरा मध्ये न स्यात्—न भवेत्। 'यद्यायद्योरुपसंख्यानम्' इति लिङ्। सालुम्बतातस्य मध्ये आगमनादेव त्वं चाण्डालहस्तात् रक्षित इति भावः ॥ २ ॥

शक्तिसिंहः कथयति—एवमेवेति। यथा भवद्भिरुक्तम्, एतदेवमेव। सालुम्बतातेनाहं रक्षितोऽस्मीति मे प्राणरक्षकत्वात्पितैवेत्यर्थः। किमाज्ञापयसीति। किमयं भवता रक्षितो भवत्पुत्रस्थानीयो भवत्सविधे तिष्ठतु, किं वा तवौरसः पुत्रो जात इति कृत्वा मम सविधे तिष्ठतु। स्थापनिकेति। यथा स्थापनिकायां रक्षकस्य तद्ग्रहणे नाधिकारो भवति, एवमस्य विषयेऽपि मम नाधिकारः, अयं तवैवेति भावः। यथा भवद्भ्य इति। यदि एतद्रक्षणे पुनरपि मामाज्ञापयन्ति भवन्तस्तदाऽहं तथा विधास्यामि, अथात्मीयस्थापनिकावदिमं ग्रहीतुमिच्छन्ति तदा गृह्णन्तु इत्युभयप्रकारयोर्मध्ये यथा रोचते। भवद्भ्य इत्यत्र 'रुच्यर्थानां प्रीयमाणः' इति चतुर्थी।

दृप्यदिति। दृप्यन्तः—दर्पयुक्ताः, द्विषन्तः—शत्रुभूताः, ये क्षितिपालाः—राजानः, तेषां या सेना सैव समुद्रस्तत्र, कुम्भोद्भव इव—अगस्त्य इव तच्छोषणे तन्नाशने अगस्त्यसमानः एष शक्तिसिंहः चेद्—यदि तव सहायः—

तिष्ठेत्सहायस्तव चेत्तदा स्यात्
किया‍न् वराको यवनाधिनाथः ॥ ३ ॥

प्रता०—अस्त्वेवम् । मदभिन्नशरीर एवासौ तिष्ठतु ।
दश ग्रामास्तुभ्यं दीयन्ते तत्र ते संतानसत्ता सदा तिष्ठतु ।
इति स्वमुद्राङ्कितं लेखं विधाय तस्मै ददाति ।

सालु०—अनेन तवौदार्येण यावद्वंशपरंपरं क्रीतोऽस्मि ।

शक्तिः—महाराज ! श्रूयते राज्यलोभात्सगरसिंहो म्लेच्छराज-मुपगतः ।

प्रता०—आः ! कोऽयं वराकः । गच्छतु, किमनेनापह्रियते । पश्य—
म्लेच्छाधिनाथस्य समस्तसैन्यमेकाक्यहं नाशयितुं समर्थः,
यन्धोर्गणस्यानुगतौ भवेयुर्द्वित्राः कलास्तस्य समूलनाशे ॥४॥

तवानुचरः सन् तिष्ठेत्, तदा अयं प्रत्यक्षविषयीभूतो वराकोऽकिञ्चित्करो यवनाधिनाथः अकबरः कियान्-कियत्परिमाणः स्यात् । यथा अगस्त्यः क्षणेन समुद्रमशोषयत्तथैवायमपि विपक्षिसेनां क्षणेन नाशयिष्यतीत्यकिञ्चित्कर एवाकबरो भविष्यतीति भावः ॥ ३ ॥

अनेनेति ग्रामदान 'राजपद' प्रदानरूपेणौदार्येण । यावद्वंशेति । 'यावदवधारणे' इति समासः । यावत्पर्यन्तं मे वंशपरम्परा तावत्पर्यन्तं क्रीतोऽस्मि, मम भाविनी सन्ततिरपि तवानुगामित्वं न त्यक्ष्यतीति भावः । राज्यलोभादिति । राज्यस्य लोभात्-अनुचिताभिलाषात् । म्लेच्छराजमिति । म्लेच्छाना-प्रत्यन्तदेशवासिनां राजा, न त्वस्माकमपीत्यर्थः । तमुपगतः तत्सविधे प्राप्तः । स म्लेच्छराजः साहाय्यदानेन मेवाडदेशाधिपतिं विधास्यतीत्यभिलाषया तदासतां प्राप्त इति भावः ।

प्रतापः सक्रोधं कथयति-आः ! कोऽयमिति । आ इति क्रोधसूचकमव्ययम् । अयं सगरसिंहो वराकोऽकिञ्चित्कर एव, न कुत्रापि गणनीयः सामर्थ्यशून्यत्वात् । अनेन गतवता सगरसिंहेन किम् अपह्रियते, न किञ्चिदप्यनिष्टं विधातुं शक्यत इति भावः । पश्य—अन्तःकरणेन विचारय । म्लेच्छाधिनाथस्येति सुगमम् ।

सालु० राजन्—एवमेवैतत् ।

शक्ति०—बहुकालातिपातः संजातः । पश्य—

तापं संजनयन्स्मृतिं कवलयंस्तर्षं समुल्लासयन्
दृष्टिं संभ्रमयन्मनो विकलयन् स्वेदाम्बु संचारयन् ।
भूमिं संज्वलयन्नपोऽपचययन् पान्थान्समुत्सारयन्
वह्निं संघटयन् मृगानसितयन् सूर्यः समुज्जृम्भते ॥ ५ ॥

प्रता०—आम्, कथानुकथनेनाज्ञात एव बहुकालः संजातः ।

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । सालुम्बशक्तिसिंहौ निष्क्रामतः ।)

शक्तिसिंहो मध्याह्नसमयमवलोक्य कथयति—कालेति । कालस्य—माध्याह्निकस्नानकालस्य, अतिपातः-समयातिक्रमः, संजातः-अभूत् ।

तमेव मध्याह्नसमयं वर्णयति— तापमिति । तापं-संतापं, संजनयन्-सम्यक् प्रकारेणोत्पादयन्, स्मृतिं-स्मरणशक्तिं, कवलयन्-कवलीकुर्वन् अतिसंतापवशात्स्मरणशक्तेर्ह्रासो भवति । तथा तर्षं-पिपासां, समुल्लासयन् वर्धयन्, 'उदन्या तु पिपासा तृट् तर्षो जग्धिस्तु भोजनम्' इत्यमरः दृष्टिं दर्शनं ज्ञानं वा संभ्रमयन्-अतद्वति तत्प्रकारतयोत्पादयन्, मरीचिका-जननात्, अत्यन्तसंतापतयोद्वेगजननेनान्यथा बोधोदयाद्वा । तथा मनो-मानसं, विकलयन्-व्याकुलं कुर्वन्, स्वेदाम्बु-स्वेदजलं, संचारयन्-प्रवाहयन् । भूमिं-पृथ्वीं, संज्वलयन्-अत्यन्तसंतप्तां कुर्वन्, अपो-जलानि, अपचययन्-अपहारं कुर्वन्, 'अपहारस्त्वपचय' इत्यमरः । पान्थान्-पथिकान्, समुत्सारयन्-प्रतिरोधयन्, अत्यन्तघर्मोदयात्पथिकानां गति-प्रतिरोधं कुर्वन् । वह्निं संघटयन्—अतिसंतापवशात् धूलिकणेषु वह्नेः प्रतीतिमिव जनयन्, मृगान् असितयन्-श्यामं कुर्वन् सूर्यः समुज्जृम्भते—उदयमानः सूर्यः प्रचण्डः सन्नूर्ध्वमायातीति भावः । अत्र प्रतिचरणं पूर्ववाक्येषु घटादीनां, मध्यवाक्येषु नामधातूनां प्रयोगात् अन्तिमेषु ण्यन्तानाम् इति न भग्नप्रक्रमता । सूर्यस्यापि तथैवौष्ण्यप्रापर्दमुपपद्यत इति स्वभावोक्त्यलंकारः ॥ ५ ॥

प्रतापः—(किञ्चित्परिक्रम्य निःश्वस्य च अकबरं लक्ष्यीकृत्य । मनसि ।)

रे म्लेच्छाधिप ! दुर्विनीत ! फलितः कौटिल्यजालाकुलो-
दिष्ट्या रूढपदस्त्वया विरचितो भेदप्रयोगः स्वतः ।
यल्लोभोपहतस्त्वदीयशरणेऽभून्मे पितृव्यः स्विकां
मर्यादामपहाय पूर्वपुरुषायातां श्ववृत्त्या स्थितः ॥ ६ ॥

दौवारिकः (प्रविश्य) जेदु जेदु महाराओ । आगराणयरा
जयतु जयतु महाराजः । आगरानगरात्
आयादो भद्दमुहणामा चारणो दुआरि चिट्ठइ ।
आयातो भद्रमुखनामा चारणो द्वारि तिष्ठति ।

तत्कौटिल्यं स्मरन्क्रोधावेशवशात्तमभिलक्ष्य कथयति प्रतापः—रे म्लेच्छाधिपेति । रे इति असदामन्त्रणे, म्लेच्छानां भक्ष्याभक्ष्यादिविवेकशून्यानाम्, अधिपः प्रभुस्तत्सम्बुद्धौ, एतेन महापापाचारित्वमस्य द्योत्यते । दुर्विनीत ! एतेन स्वार्थसाधकशीलत्वमस्य सूच्यते । कौटिल्यजालेन-मायाप्रपञ्चेन, आकुलो व्याप्तः, सर्वतो भावेन कौटिल्यप्रपञ्चितः, त्वया-अकबरेण, हृदिस्थत्वात् क्रोधावेशवशाच्च साक्षात्सन्मुखस्थितमिव मन्यमानेन युष्मच्छब्दप्रयोगः कृतः । विरचितः कोऽपि शिशोदियावंशीयः प्रतापविरुद्धस्त्वत्समस्तविधे समायात्विति निर्मितो भेदस्य-प्रयोगः, दिष्ट्या त्वदीयशुभप्रारब्धोदयात्, रूढं-सजातं, पदं-स्थानं यस्य स तथा आरोपितपदः सन् स्वत एव त्वदीयव्यापारनिरपेक्ष एव फलितः सफलतां गतः । तमेव भेदं दर्शयति । यत् लोभेन उपहतः—लोभोपहतः, राज्यलिप्सया युक्तो मे पितृव्यः—पितुर्भ्राता सगरसिंहः, पूर्वपुरुषायाता—वंशपरंपरानुगता, स्विका—स्वकीया, मर्यादा—स्वाधीनतारूपा स्थितिम् अपहाय त्यक्त्वा, "अधीनवृत्तिमेव श्वकृत्यं मन्यमानः कथयति"। श्ववृत्त्या 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता' त्वदधीनवृत्त्या स्थितः सन् त्वदीयशरणेऽभूत् । अयमेव भेदो यन्मे पितृभ्रो राज्यलिप्सया त्वत्सविधे प्राप्तः ॥ ६ ॥

आगरेति । अकबरनिवासस्थानात् स्वनामख्यातात्पत्तनात् ।
पूर्वकर्मेति । पूर्वजन्मकर्मप्रभावेण अनु पश्चादस्मिन् जन्मनि प्राप्ता,

प्रता०—(मनसि) तन्नगरवृत्तान्तपरिज्ञानाय प्रेषितश्चरोऽयम् ।
(प्रकाशम्) प्रवेशय ।

(ततः प्रविशति तेन सह दौवारिकः ।)

प्रता०—दौवारिक ! त्वं स्वनियोगमशून्यं कुरुष्व ।

(ततो निष्क्रामति दौवारिकः ।)

प्रता०-भद्रमुख ! स्वगमनात्प्रभृति कथय आगरानगरवृत्तान्तम् ।

भद्रमु०—सुणोदु महाराओ । पुव्वं अकबरेण अप्पाणं अरियं
शृणोतु महाराजः । पूर्वमकबरेण आत्मानमार्यं

छत्तिअं संपादइउं बम्हणा कहिया । तओ तेहिं बम्हणेहिं
क्षत्रियं संपादयितुं ब्राह्मणाः कथिता । ततस्तैर्ब्राह्मणै.

कहियं । पुव्वकम्मणो पहावेण जहा राया वा धणिओ
कथितम् । पूर्वकर्मणः प्रभावेण यथा राजा वा धनिको

नित्याम् अविनाशिनीम्-अप्रच्युतस्थिरैकरूपा, जातिं न कोऽपि, परावर्तयितुं-शूद्रा जातिं क्षत्रिया विधातुं, समर्थः । जातेर्नित्यत्वात् न तत्परावर्तनं भवतीति भावः । ननु 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इति प्रामाण्यात् क्षतात्त्रिाणकर्तृत्वरूपा कर्मानुसारिणी क्षत्रियजातिः सिध्यतु । चातुर्वर्ण्यमस्यार्थं भावः । गुणकर्मविभागेन चातुर्वर्ण्यं सृष्टमिति चेन्न, चातुर्वर्ण्य-मित्यस्याभिप्रायापरिज्ञानात् । तच्चेवम्-चातुर्वर्ण्यस्य सृष्टौ कर्तृत्वं कस्येत्याकाङ्क्षायां मयेति पदघोष्यस्य ईश्वरस्येति भवद्भिरपि वक्तव्यम् । अन्यथा मयेत्यनर्थकं स्यात्, गुणकर्मणोरचेतनत्वेन चातुर्वर्ण्योत्पादने सामर्थ्याभावाच्च । मया कृष्णेन जगन्नियन्त्रा ईश्वरेण गुणकर्मणी विभज्य चातुर्वर्ण्यं सृष्टम् । यथा दयादाक्षिण्यादयः स्वाभाविका गुणाः, यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहाः कर्माणि ब्राह्मणानाम् । एवं क्षत्रियादीनामपि गुणकर्मणी विभक्ते एव । एतदंशे एवास्य तात्पर्यम् । किञ्च—यदि कर्मानुसारिण्येव जातिरित्यभिनिवेश-स्तदा जीवस्य गर्भागमनसमये पूर्वजन्मकालिकं कर्मादायेव ॥ ।

वा रंको वा होइ एवं चेव पुव्वकम्मणो पहावेण
वा रङ्को वा, भवति, एवमेव पूर्वकर्मणः प्रभावेण
बम्हणो वा छत्तिओ वा सुद्दो वा होइ। पुव्वकम्मा-
ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा शूद्रो वा भवति। पूर्वकर्मा-
णुगया णिच्चा जाईं ण कोऽवि पराबट्टिउं समत्थो।
नुगता नित्या जातिं न कोऽपि परावर्तितुं समर्थः।

जातो जीवः समुत्पद्यते इति जायमानो बालो ब्राह्मणः क्षत्रिय इति व्यवह्रियते। उक्तं हि छान्दोग्ये पञ्चमेऽनुवाके। तद्यथा "इह रमणीयचरणाभ्यासो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणाभ्यासो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।" इति। एतदेवाभिप्रेत्य न्यायदर्शनसूत्रेऽप्युक्तम्—"पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः" इति। मनुनाऽप्येवमेवोक्तम्—"शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्"। इत्यनाशे एवास्य भावः संभवति न तु जायमानस्य ब्राह्मणादेः परावर्तने। किंच-गुणकर्मणोश्चातुर्वर्ण्येन सह कः सम्बन्ध इति जिज्ञासायां द्रव्यद्रव्ययोरेव संयोग इति नियमेन संयोगाभावाद्, अवयवावयविनोरिव गुणगुणिनोः क्रियाक्रियावतोश्च नित्यः समवाय एव संबन्ध इति मन्तव्यम्। ततश्च ब्राह्मणगुणानां न ब्राह्मणात्पार्थक्येनावस्थानं संभवति। एवं च ब्राह्मणोत्पत्तिसहकृता एव ब्राह्मणगुणा उत्पद्यन्ते, नहि दयादाक्षिण्यादयो गुणा आत्मगताः सन्तो ब्राह्मणस्यात्मन उत्पत्त्यनन्तरं स्थापयितुं शक्यन्ते। नापि विभिन्नगतास्ते गुणा इति कथमपि साधयितुं पार्यते। नापि ब्राह्मणस्यात्मनि अविद्यमाना गुणा अन्यस्थानादागत्य ब्राह्मणत्वं साधयन्ति। किन्तु सहैव गुणाः समुत्पन्नाः, एवं कर्मापि। अन्यकर्मकर्तृत्वे तु अनधिकारचर्चैव विधीयते ननु ब्राह्मणत्वं विहन्यते। अत एव अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तं चाध्यापयीत इत्यादि समगच्छते। इत्यलमत्र बहूक्तेन, इति प्रासङ्गिकत्वात्समयोपयोगाद् व्याख्यातम्। अथ प्रकृतमनुसरामः।

प्रता०—साधु साधु! विद्वद्भिर्युक्तियुक्तं शास्त्रमर्यादानुगतमेवोक्तम्। ततस्ततः।

भद्र०—तओ तेहिं बम्हणेहिं कहियं, जहा तुमं दाणप्पहावेण
ततस्तैर्ब्राह्मणैः कथितं, यथा त्वं दानप्रभावेण
राया भूओ एव्वं चेव विवेअपरिच्चाएण कपूआ-
राजा भूतः, एवमेव विवेकपरित्यागेन कपूया-
यरणेण मिलिच्छो जाओ। अओ पुव्वकम्मप्पहावस्स
चरणेन म्लेच्छो जातः। अतः पूर्वकर्मप्रभावस्य

प्रतापः कथयति—विद्वद्भिः-श्रुतिस्मृतिपुराणतत्त्वज्ञैः, अत्र बहुत्वात् सर्वैरप्येकमत्येनउक्तमिति बुध्यते, युक्त्या युक्तं-तर्कस्यानुकूलम्, शास्त्राणां-श्रुतिस्मृतिपुराणानां, मर्यादायाः-आप्तपुरुषव्यवहारस्य च अनुकूलमेवाभिहितम्, न खलु तेषामुक्त्या शास्त्राण्याप्तव्यवहारश्च भिद्यन्ते इति। 'आप्तवचनं वेदाश्च प्रमाण'मिति वदता न्यायसूत्रकारेण आप्तवचनस्य वेदस्यप्रामाण्यं स्वीकृतमिति तैर्विद्वद्भिरपि तदनुकूलमेवोक्तमित्यर्थः। दानप्रभावेणेति। प्रत्येककर्मणो विभिन्नफलजनकत्वाद् दानकर्मणः फलं धनिनां कुले समुत्पत्तिः।

ननु दानादिशुभाध्यवसायवशाद् यथा राजराजेश्वरस्य गृहे जन्म एवमेव तस्मादेव शुभाध्यवसायाद् ब्राह्मणस्य क्षत्रियस्य वा गृहे जन्म कथं न जातमिति तद्विविच्य दर्शयति—

विवेकपरित्यागेनेति। विवेकस्य भक्ष्याभक्ष्यादिविचारस्य परित्यागेन। कपूयेति। कपूयानां दुष्कर्मणामाचरणेन म्लेच्छो म्लेच्छजातीयो यवनो जातः। अतः पूर्वकर्मेति। पूर्वजन्मनि कृतस्य कर्मणः प्रभावस्य अस्मिन् यवनशरीरे विद्यमानत्वान् अनेन यवनशरीरेण क्षत्रियो न भविष्यसि। ननु-"अङ्गीकारेण शान्तीनां ब्राह्मणानुग्रहेण च। पूयन्ते तत्र पापिष्ठा महापातकिनोऽपि ये" इति वचनप्रमाण्यात्प्रायश्चित्तादिना शुद्धिद्वारा तस्य क्षत्रियत्वमस्तु इति चेन्न, अङ्गीकारेणेति वचनस्यात्रांशेऽसंबन्धात्। तथा हि अभक्ष्यभक्षणे अगम्यागमने च कृते सति ज्ञातिभिः

इमस्सिं सरीरम्मि विज्जमाणत्तेण अणेण सरीरेण
अस्मिन् शरीरे विद्यमानत्वेन अनेन शरीरेण
छत्तिओ ण होइस्ससि।
क्षत्रियो न भविष्यसि।

प्रता०—साधु, साधु, अद्यापि निःस्पृहाः सत्यैकनिष्ठा ब्राह्मणाः सन्ति। ततस्ततः।

भद्र०—जदा बहुलोहद्दंसणप्पगारेण वि बम्हणा ण सत्थविमुहा
यदा बहुलोमदर्शनप्रकारेणापि ब्राह्मणा न शास्त्रविमुखा
जाआ तदा अकबरो छत्तिएहिं सह संबंधिदुं उज्जुत्तो
जाताः तदा अकबरः क्षत्रियैः सह संबन्धितुमुद्युक्तः।

परित्यक्तस्य महापातकिनः प्रायश्चित्तादिना शुद्धौ ब्राह्मणैरनुग्रहबुद्धया आमन्त्रणनिमन्त्रणस्वीकारादिना सत्संग्रहे कृते ज्ञातिभिः सहभोजनादिना तत्स्वीकारे च कृते महापातकिनः शुद्धिरित्यत्रैव तात्पर्यं न तु पूर्वजन्मकृतपापप्रभावेण समुत्पन्नस्य शुद्धिरपि बोध्यते। किंच ज्ञातिभिः परित्यक्तस्यैव ज्ञातिभिरङ्गीकारो विधीयते, न तु ज्ञात्यपरित्यक्तस्य अन्यज्ञातिसमुत्पन्नस्यापि। अपि च यवनज्ञातिसमुत्पन्नस्य स्वसमानज्ञातिभिरेव स्वीकरणं विधीयते नतु विजातिभिः। अन्यच्च-पातकित्वमपि तस्य न सिध्यति, किमुत महापातकित्वम्। तथा हि—कपूयाचरणपातकप्रभावात् यवनकुले समुत्पत्तिरिति तत्पातकफलभोगस्तु जात एव। पातकफलभोगानन्तरं पापस्यैवाभावात्, न खलु विहितापराधदण्डभोगानन्तरमपि दण्डः संभवति। अतो म्लेच्छज्ञातिसमुत्पादकपापस्य म्लेच्छजातौ उत्पत्तेस्तत्फलभोगेन तत्पापस्य नाशात्किंकृतं प्रायश्चित्तं स्यादिति न प्रायश्चित्तादिना क्षत्रियो भवितुमर्हतीति तात्पर्यार्थः।

बहुलोमेति। राज्यदानमानादिलोमदर्शनस्य प्रकारेणापि यदा ब्राह्मणाः ब्रह्म वेदस्तज्जानन्तीति ब्राह्मणाः, वेदार्थतत्त्वज्ञाः शास्त्रविमुखाः शास्त्रमर्यादापराङ्मुखा न जाताः। यद्वा शस्त्रविमुखा इति। अपिशब्दो भिन्नक्रमः शस्त्रविमुखा अपि। शस्त्रेभ्यो विमुखाः मरणपराङ्मुखा अपि

मानं विहाय यदि जीवसि तर्हि नार्यो
लोकास्त्वदीयचरितानि कथं स्मरेयुः ॥७॥

ततस्तत.—

भद्र० तओ इओ रज्जलोहाओ विणिक्कंतो सअरसीहो
तत इतो राज्यलोभाद्विनिष्क्रान्तः सगरसिंहः
मिलिच्छाहिरायं उवगओ।
म्लेच्छाधिराजमुपगत.।

प्रता०—श्रुतमेतत्। ततस्ततः—

भद्र०—तओ तेण भोदीयपयाजणवट्टमाणो सअलो वि वुत्तंतो
ततस्तेन भवदीयप्रजाजनवर्तमानः सकलोऽपि वृत्तान्तः
कहिओ, तं सोऊण पडिण्णायं मिलिच्छराएण।
कथितः, त श्रुत्वा प्रतिज्ञात म्लेच्छराजेन।
तुमं चेय मेवाडदेसाहिवइं करिस्सामित्ति।
त्वामेव मेवाडदेशाधिपतिं करिष्यामीति।

म्लेच्छराजस्याकबरस्य, अनुवर्त्तनेन-अनुयायितया देशदास्यतासम्पादनेन, कियत्-कियत्परिमित, धन स्यात्, देशदास्यतासम्पादनापेक्षया बहुतरमपि धनमल्पमेवेति भाव। अथ मानशून्यस्य आर्यस्य जीवनमपि न संभवतीति कथयति। यदि त्वं मानं क्षत्रियत्वाभिमान विहाय त्यक्त्वा जीवसि तर्हि नार्यः, आर्यो नासि। अथवा न आर्यो नार्यः, नार्थे नञ्, किन्तु निषेधार्थको न शब्दः। अनार्योऽसीत्यर्थः। न खलु मान परित्यज्य आर्या जीवन्तीति भावः। अथवा मानपरित्यागेन मानसिंहेति नाम्यपि मानपदपरित्यागात् यदि जीवसि—यदि ते स्थितिर्भवति, तर्हि नार्य· किंतु कार्याकार्यविवेकशून्यः क्रूरप्रकृतिकः सिंहः पशुरेवासीत्यर्थः। अथ भाविनि कालेऽपि तव दुर्यश इति प्रदर्शयति–लोका जनास्त्वदीयचरितानि कथं स्मरेयुः त्वदीयचरितानि गर्हिततया स्मरिष्यन्तीति भावः। 'विभाषा कथमि लिङ् च' इति भविष्यदर्थे गर्हाया लिङ् ॥ ७ ॥

प्रता०—(सक्रोधम्)

रे नीचाधिप ! चिन्तयात्मकुशलं न स्थास्यसि त्वं चिरं
कृत्तां मन्निशितासिना स्वपृतनां श्रुत्वैव संधक्ष्यसे।
यच्छक्ति मिलितः प्रतापविजयस्त्वज्जय्यतानिर्गतो
वीराणामधिपः स जीवति, कथं मेवाडमीक्षिष्यसे ॥ ८ ॥

ततस्ततः—

भट्ट०—तओ सो सयरसीहो तव्वयणं बहु मण्णंतो अप्पाणं
ततः स सगरसिंहस्तद्वचनं बहु मन्यमानः आत्मानं

प्रतिज्ञातमिति। प्रतिज्ञापूर्वं कथितम्, किं प्रतिज्ञातमिति तत्स्वरूपं दर्शयति–त्वामेवेत्यादि।

अथ मेवाडदेशस्याधिपतिं करिष्यामीति श्रवणतः सक्रोधं कथयति प्रतापः—रे नीचाधिपेति। रे इति असदामन्त्रणे। नीचाना–नीचप्रकृतिकाना, मानसिंहसगरसिंहादीनाम्, अथ वा–नीचाना नीचजातीययवनादिशूद्राणाम् अधिपः, न तु आर्यब्राह्मणादिहिन्दूनामप्यधिपस्त्वमिति भावः। तत्संबुद्धौ हे नीचाधिप! आत्मकुशलं–स्वकुशलं, चिन्तय–स्वकुशलस्य सदसत्ता विचारय। त्वं चिरं–बहुकालं, न स्थास्यसि–न जीविष्यसीत्यर्थः। कथमिति चेद् दर्शयति। मम निशितेन–तीक्ष्णेन, असिना–खड्गेन, कृत्ता–छिन्ना, स्वपृतना–स्वकीयसेना, श्रुत्वैव–श्रवणमात्र एव, संधक्ष्यसे–दग्धान्तःकरणः सन् मृतो भविष्यसि। तत्र हेतुं प्रदर्शयति। यत्–यस्मात्कारणात् शक्ति–शक्तिसिंहम्, अथ च प्रभावोत्साहमन्त्रजा शक्ति, मिलितः–संगतः, मिलित इत्यत्र गत्यर्थत्वात्कर्तरि प्रत्ययः। प्रतापविजयः तस्मात्कारणात्त्वज्जय्यतानिर्गतः, जेतु शक्यः–जय्यः, तस्य भावो जय्यता ततो निर्गतः, जेतु शक्यताया बहिर्भूतः, वीराणामधिपः–वीराधिपतिः, सः प्रसिद्धः, प्रतापविजयः जीवति, त्वं मेवाडं कथम् ईक्षिष्यसे। प्रतापे जीवति सति ते मेवाडदर्शनमपि न संभवति कुतस्तज्जय इति भाव. ॥ ८ ॥

तत इति। तदनन्तरं, स सगरसिंहः, तद्वचनं–तस्य अकबरस्य वचनं, बहु मन्यमानः–यथा अनेन प्रतिज्ञातं तथैवायं करिष्यति, मा

तअट्ठे समप्पियवतो । तअणु मिलिच्छाहिराएण
तदर्थे समर्पितवान् । तदनु म्लेच्छाधिराजेन
चित्तोरप्पदेसस्स दुग्गो तस्स दिन्नो । अओ पर भवन्तो
चित्तोरप्रदेशस्य दुर्गस्तस्मै दत्तः । अत पर भवन्त
पमाण ।
पमाणम्
(ततो निष्क्रान्तो भद्रमुखः ।)
(मनसि)

प्रता०—रे क्षत्रियापसद ! कुकरवृत्तिमात्रो
नीचाश्रितोऽसि परिहाय निजप्रभावम् ।
नाहं तव स्मृतिपथ समुपागतः स्या
मात्मीयतातचरितं तु कथ स्मृतं न ॥ ९ ॥

रे रे कातर ! दुर्विदग्ध ! कुमते ! भेदैकवाचस्पते !
मद्दुर्धर्षसुवीरविक्रमभिया किं लीयसे स्वक्षितौ ।

मेवाडाधिपतिं विधास्यतीति तदाशय । आत्मान स्व तदर्थं म्लेच्छाधिपतये समर्पितवान्, तदाश्रता स्वीकृतवान् । तदनु इत्यादि सुगमम् ।

प्रताप मनसि कथयति-रे क्षत्रियेति । क्षत्रियेष्वपसद नितरा हीनस्तत्सम्बुद्धौ, रे क्षत्रियाधम ! कुक्कुरवृत्ति स्ववृत्तिमात्र सन्, निजप्रभाव-स्वप्रतिष्ठा, परिहाय त्यक्त्वा, नीचाश्रितोऽसि शूद्रजातीय म्लेच्छराजमाश्रित्य स्थितोऽसीत्यर्थं । अह तव स्मृतिपथ-स्मरणविषयता, न समुपागत' स्याम्, आत्मीयतातचरितं-परमशौर्यशालितया सुप्रसिद्धम् आत्मीयतातस्य श्रीपूज्यसागारयतातचरणस्य चरितम्, यो हि एकाशातिव्रणैर्जर्जरितोऽपि स्वाधीनता न त्यक्तवानित्यादि तु कथ न स्मृतम्, त्वया दृष्टमेव तच्चरित स्मृतिपथ कथ न नीतमित्यर्थ ॥ ९ ॥

रे रे कातरेति । रे रे कातर ! रे भीरो !, रे दुर्विदग्ध ! रे कुमते ! दुष्टमते !, रे भेदैकवाचस्पते ! भेदे परस्परभ्रात्रादीना विभिन्नतावैरादिसपादने एकोऽद्वितीयो वाचस्पतिः, तत्सम्बुद्धौ, भेदोत्पादने परमबुद्धिशालिन् ! मम दुर्धर्षा —परमशौर्यशालितया दुर्जयाः, ये सुवीरा —

धिक् त्वां यत्समरे ममैव कुलजं योद्धुं नियुङ्क्ते भयाच्
चित्तोरं नच रक्षितुं प्रभवसि त्वं तु प्रतापोन्मुखः ॥१०॥

परमयं सगरसिंहः कथं समुपगतः।

(पुनर्विचिन्त्य)

अस्तु। सगरसिंहस्यास्मत्पितृव्यस्यैवाधिकारे चित्तोर-दुर्गं इत्यात्मवंशे एव, ततो नाहं यावत्सगरसिंहं तं परावर्तयितुं यतिष्ये।

तत्परावर्तने वंशे वैरभावः समुज्ज्वलेत्।
दोषः पितृव्यघाते स्यात् तस्मात्तत्रैव तिष्ठतु ॥ ११ ॥

परमात्तमधीराः तेषां विक्रमभिया-पराक्रमभयात्, स्वक्षितौ-स्वकीयभूमौ, किं लीयसे। स्वनिवासं विहाय बहिरागत्य युद्धाय किं न सज्जीभवसि। यत्-यस्मात्कारणात्, त्वं प्रतापोन्मुखः-प्रतापसंमुखस्थितः, चित्तोरं-चित्रपुरनामकं दुर्गं रक्षितुं न प्रभवसि, तद्रक्षणे न समर्थो भवसि तत् तस्मात्कारणान्मे मम वैरविधौ ममैव पितृव्यत्वात्पूज्यं कुलजं पितामहपुत्रं सगरसिंहं योद्धुं भयाद् नियुङ्क्ते-नियोजयसि। यवनहस्ता-च्चित्तोरदुर्गोद्धार आवश्यकः, तदुद्धारे पितृव्य एव परिपन्थीत्यसम-ञ्जसमेव ॥ १० ॥

पुनरिति। यवनहस्ताच्चित्तोरदुर्गोद्धार इत्येवास्मत्कर्तव्यं तत्तु निष्पन्न-मेवेति पुनर्विचिन्त्य मनसि कथयतीत्यध्याहार्यम्। अथ विचारस्वरूपं प्रदर्शयति—सगरसिंहस्येत्यादि सुगमम्।

तत्परावर्तने इति। तस्य-चित्तोरदुर्गस्य, परावर्तने-सगरहस्तादुद्धृत्य स्वायत्तीकरणे, वंशे-स्वकीये एव वंशे वैरभावः समुज्ज्वलेत्, संभावनायां लिङ्। सगरविनाशे केचित्तत्पक्ष-पातिनो वैराविष्यन्ते इत्यर्थः। किञ्च-पितृव्यस्य, घाते-मारणे, दोषः स्यात्, पितृव्यमारणे महापातकं च संपद्येत। तस्मात् वंशे वैरभयात्पि-

(अथोपतिष्ठते दौवारिकः ।)

दौवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—किमस्ति ।

दौवा०—कएणराउतकन्हपुरोहिआइआ दुवारि समुवट्ठिया ।

कर्णरावतकृष्णपुरोहितादिका द्वारि समुपस्थिताः ।

तत्थ भवंतं दट्ठुं अहिलसन्ति ।

तत्र भवन्तं द्रष्टुमभिलषन्ति ।

(प्रतापः स्वयं द्वारि समुपतिष्ठते । सर्वान्सानुनय प्रवेशयति । 'विजयतामेकलिङ्गेश्वर इति परस्परमभिब्रुवन्ति । ततो यथास्थानं सर्वे उपविशन्ति ।)

प्रता०—किमाज्ञापयितुमनुगृहीतोऽयं जनः ।

पुरोहितः—राज्यपीठाधिरोहणानन्तरं प्रथमपर्वसंप्राप्तौ आखेटार्थं गन्तव्यमेव खलु कुलाचारः, तत्राखेटलाभालाभाभ्यां भाविशुभाशुभकल्पनं क्रियते । अतोऽद्य भवद्भिराखेटार्थं गन्तव्यम् ।

प्रता०—यथा भवतामाज्ञा ।

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति । द्वारि समुपतिष्ठन्ते ।)

प्रता०-दौवारिक ! आखेटे गन्तव्यमिति चेतार्कं सज्जीकारय ।

तृष्यमाणप्रायश्चित्तभयाच्च तत्रैव अस्मद्‌ शौर्ये सगरसविधे एव तिष्ठतु । एतेन अस्मदभीष्टसिद्धिरपि सम्पद्यते एव ॥ ११ ॥

विजयतामिति । विजयतामेकलिङ्गेश्वरः स्वामीष्टदेवता एकलिङ्गेश्वरः सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । अशनिना हृदयेऽपि तव वासो भवतु न ते त्वत्तः पराङ्मुखा भवन्त्विति तात्पर्यार्थः । एतेन स्वामीष्टदेवताया विजयप्रार्थनं न विरुध्यते । कुलाचार इति । एतेन तत्करणमावश्यकमिति व्यज्यते ।

दौ०—जं देवो आणवेदि ।
यद्देव आज्ञापयति ।

(इति निष्क्रम्य अश्वपरिचारकमाज्ञाप्य यथास्थानं स्थितः ।)

(सालुम्बादयः चेतकं प्रशंसन्ति ।)

सालुम्बः—अत्युत्तमस्ते चेतकः अहमेवं मन्ये ।

हरेर्हयेभ्यो हरितां परिक्रमे विनिर्गतो ऽसौ तव चेतको हयः ।
हरित्सवर्णो हरिवंशनायकं भवन्तमाराद्भुवमुपागतो भवेत्॥१२॥

शक्ति०—महाराज ! चंचूर्यमाणं तस्य मुखं दृष्ट्वा अहमेवं संभावयामि ।

कथं क्षमायाः क्षणमात्रतः क्रमे
भवेन्नु मे सिद्धिरितीव चेतकः ।
चलाचलप्रोथपदेन मारुता-
त्मजस्य मन्त्रं जपतीव सन्ततम् ॥ १३ ॥

हरेरिति । हरितां-दिशां, परिक्रमे-परिक्रमणसमये, हरेः-सूर्यस्य हयेभ्यः अश्वेभ्यः, विनिर्गतः-सूर्यरथाद् बहिर्भूतः, हरित्सवर्णः-हरितां दिशां समानवर्णः, दिक्सदृशनीलवर्णोपलक्षितः, अयं-चेतकाख्यो हयः हरिवंशस्य नायकं-हरिवंशनायकं सूर्यवंशश्रेष्ठं, भवन्तम् आराद्धुं-सेवितुम्, भुवं-पृथिवीम्, उपागतो भवेत्, संभावनायां लिङ् । सूर्याश्वानां हरिद्वर्णोपेतत्वात्तस्यैवासौ अश्व इति मे प्रतिभाति । तीव्रगतित्वात् सूर्याश्वानामिव वर्णोपेतत्वात् सूर्याश्वत्वेन उत्प्रेक्षापूर्वको निश्चयः ॥ १२ ॥

अश्वो मुहुः नासिकोष्ठं चालयतीत्यश्वस्वभाव एव । तदवलोक्य उत्प्रेक्षमाणः शक्तिसिंहः प्रतापं संबोध्य कथयति—कथं क्षमाया इति । क्षणमात्रतः-क्षणमात्रेण, क्षमायाः-पृथिव्याः क्रमे-क्रमणे, मे-मम सिद्धिः कथन्नु भवेत्, इतीवेति । इति हेतोरिव, चेतकः चलाचलप्रोथपदेन-नितान्तचञ्चलनासिकोष्ठस्थानेन, मारुतात्मजस्य-हनुमतः, मन्त्रं, सन्ततम्-अविरतं, जपति इव । 'चलनं कम्पनं कम्प्रं चलं लोलं

रावतकृष्णः—महाराज !

पदे समुत्थाप्य तव द्विपो गलं
ग्रहीतुमिच्छन्निव खं विगाहते,
पुनश्च तत्र त्वनवाप्य ते रिपुं
रसातलं शोधयितुं समीहते ॥ १४ ॥

पुरो०—साधु रावतकृष्ण ! साधु । अनिर्वचनीयोऽस्य चरणव्यापारः—

मत्स्वामिप्रतिपक्षमङ्ककुहरे कञ्चिन्निलीय स्थिता
गोत्रा गोरिपवे ददाति निभृतं धान्यं धनं भूरिशः ।

इत्यमरः । 'घोणा तु प्रोथमस्त्रियाम्' इति चामरः । चञ्चल नासिकोष्ठस्थानमवलोक्योत्प्रेक्षते, मारुततुल्यवेगवतो मारुतात्मजस्य प्रजविरवसिद्धये आराधनामयं करोतीति भावः ॥ १३ ॥

अथ रावतकृष्णश्चेतकाश्वस्य चेष्टामवगत्य तदवगतये प्रतापमुन्मुखीकरोति—पदे इति । असौ चेतकः, पदे-हस्तस्थानीयौ चरणौ 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' इत्यमरः । समुत्थाप्य तव, द्विपः—शत्रोः, गलं—कण्ठदेशं, ग्रहीतुम्-उपादातुम्, इच्छन्निव, खम्—आकाशं, विगाहते । अत्र तव शत्रोर्गलग्रहेच्छयैव आकाशे पदे उत्थापयतीति भावः । अथ तव शत्रूणां युद्धत्यागेन पलायनानन्तरं मृतानामन्तरिक्षेऽप्राप्तेरस्य चेष्टान्तरमाह । अथापि आकाशे गमनानन्तरमपि, तत्र तु-आकाशे तु, त्वदीयं रिपुम्, अनवाप्य-अप्राप्य, पुनः, रसातलं-पृथ्वीतलं, शोधयितुं, समीहते-चेष्टां करोति । पादाचरणेन अधोगामिनं तं शत्रुमन्वेषयतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ पुरोहितो रावतकृष्णोक्तिमनुमोदयन्पादकुट्टनं वर्णयति—मत्स्वामीति । गास्त्रायते इति गोत्रा-पृथिवी, कञ्चन-अनिर्वचनीयं धर्मविरुद्धाचारित्वादग्राह्यनामानं, मत्स्वामिप्रतिपक्षं-मम स्वामिनः प्रतिपक्षभूतं यवनम्, अङ्ककुहरे-क्रोडरूपे विवरे, निलीय-निह्नुत्य, स्थिता सती, 'यवना मृता भूमौ निखन्यन्ते' इति यवनानामाचारस्तदेवाश्रित्यो-

इत्यस्या जडतां निरीक्ष्य बहुशः क्रोधादिमां क्षोभयन्
पादात्कुट्टति शिक्षयन्त्यपि जडे मैवं विदध्याः पुनः ॥ १५ ॥

प्रताप—एवमेवैतत् ।

(ततो निर्गच्छन्ति सर्वे ।)

(पटोन्नयनम्)

(आखेटमाचर्य एकत्रोपविशन्ति ।)

(ततः प्रविशति आरण्यकप्रबन्धकर्ता सेनापतिः ।)

सेनापति.—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय आरण्यकानां वृत्तान्तम् ।

सेना०—

त्वदीयमाखेटकयानवृत्तं श्रुत्वैव भीता सहजं विरोधम् ।
हित्वा समुद्विग्नहृदश्च सर्वे पलायिता वन्यमृगाः समन्तात् ॥१६॥

प्रेक्षवे-निलीय स्थिता गोत्रा, गोरिपवे-गवां शत्रवे यवनाय, निभृत-विनीतं यथास्यात्तथा 'वश्यः प्रणेयो निभृतविनीतप्रश्रयाः समाः ' इत्यमरः। भूरिशः धान्यं व्रीह्यादिकं धनं स्वर्णरजतादिकं ददाति । इत्येतत्स्वरूपां 'यद् इयं गोत्रा गोरिपवे धनं धान्यं ददाती' तिस्वरूपाम्, अस्याः—पृथिव्याः, जडतां मूर्खतां, निरीक्ष्य, क्रोधादिमां गोत्रां, क्षोभयन्—सन्त्रासयन्, हे जडे-मूर्खे, पुनरेवं मा विदध्याः इति शिक्षयन्—बोधयन्सन्, पादात्कुट्टति—ताडयति । नायं माङ् किं तु निषेधार्थको माशब्दस्ततो लुङ् न । यवनानुकूलाचरणादिमां पृथिवीमयं कुट्टतीति भावः ॥ १४ ॥

ततः इत्यादि सर्वं सुगमम् ।

अथ सेनापतिराखेटवृत्तान्तं वर्णयति—त्वदीयेति । त्वदीय—त्वत्सम्बन्धि, आखेटकयानवृत्तम्—मृगयागमनवृत्तान्तं, श्रुत्वैव—आकर्ण्यैव, नत्ववलोक्येति भावः, भीताः—त्रस्ताः, समुद्विग्नं हृदयं येषां ते तथा—भयोद्विग्नमानसाश्च, सर्वे वन्यमृगाः—सिंहवराहशशमृगादयः, सहजं विरोधं—स्वाभाविकं गोव्याघ्रादिसम्बन्धिनं वैरभावं, हित्वा त्यक्त्वा,

किं बहुना—

एकः खे द्विजराजमध्यमहितः सुस्थो मृगो मोदते
बर्ही शक्तिधरस्य राजति सुखी हंसो गिरः शोभते ।
शेते शैलसुताहरिर्गजमुखः क्रीडत्युमाङ्कान्तरे
यान्त्यन्ये भयतो दिशोऽपि विदिशः सर्वेऽप्यरण्योद्भवाः ॥१७॥

समन्तात् पलायिताः । भयान्न कश्चिदपि विरोधिनमवलोकयतीति संभूय सर्वे गच्छन्तीति भावः । एतेनास्य प्रतापातिशयो बोध्यते ॥ १६ ॥

अथाखेटबहिर्भूतान्मृगान् दर्शयति । एकः इति । एकः केवलः,'एको मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरः । खे-आकाशे, द्विजराजश्चन्द्रस्तस्य मध्ये महितः पूजितो, मृगः, सुस्थः भयादिरहितः सन्, मोदते-आनन्दति, तत्र तव गमनाभावान्न तस्य भयमस्तीत्यर्थः । तथा अन्यः, शक्तिधरस्य-स्वामिकार्तिकस्य बर्ही-मयूरः, सुखी राजति, स्वामिकार्तिकस्य संबन्धान्न तस्य भयमस्तीति भावः । तथा अपरः गिरः-सरस्वत्याः, हंसः शोभते । देहलीदीपकन्यायात् सुखी इति उभयत्र संबध्यते । तथा एकः शैलसुतायाः, हरिः-सिंहः, शेते, सुखावस्थाया शयनमिति सिंहस्वभावः । तथा एको गजमुखः-गजाननः, गजमुखत्वाद्भयकारणं सूच्यते । उमाङ्कान्तरे-पार्वत्याः क्रोडमध्ये, क्रीडति, सोऽपि तत्रैव स्थितो न पुनर्बहिः क्रीडति । एतेषां दैविकशक्तिसम्बन्धात् भवता तत्र गमनाभावाच्च न भयमस्तीति भावः । अन्ये सर्वेऽपि अरण्योद्भवाः पशुपक्षिसरीसृपादयो भयतः—भीत्या दिशोऽपि—सुरक्षितमार्गादपि, विदिशो-विरुद्धमार्गान्, यान्ति । एष एवाखेटप्रकारः । यदेका दिक् पन्था वा तेषां पलायनार्थं मुच्यते, ततश्च प्रारब्धरहिता विदिशोऽनुधावन्तीति न तेषां हनने दोष इति तात्पर्यार्थः ॥१७॥

तत्र—

भवन्मौर्वीशब्दं भयविहितदीनार्तनिनदा
निशम्यालोक्य स्वान्सुतगृहकलत्रप्रियजनान् ।
मृगाश्चाशाद् गन्तु सजलनयनाश्चातिविरहात्
समायातु प्रेम्णा स्थितिमभिलपन्तो ददृशिरे ॥ १८ ॥

(ततः प्रविशति आरण्यकवृत्तान्तपरिज्ञानाय प्रेषितश्चरः ।)

चरः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय तावदारण्यकानां वृत्तान्तम् ।

चरः—किं नाम तेषु वक्तव्यम्—

फेरुर्घोरे सघनगहने पादयुग्मे निपण्णः
किंचिच्चोर्ध्वं समुदिततनुर्द्रष्टुमीहां विधत्ते ।
फेत्कुर्वंस्त्वान् खलु मृगयते स्थानतः स्थानमन्यत्
गच्छन् स्वेषु व्रजति सहसा वाशितस्य क्रमेण ॥ १९ ॥

अपि च—

बर्हो स्वकेषां परिरक्षणाय प्रसादयन्नृत्यति कानने त्वाम् ।
जात्याऽप्यवध्यत्वमसौ ततोऽगात्केकासमुद्घोषितसाधुवादः ॥२०॥

किञ्च हंसाः

चुं-चुं-कृतं तनयमात्मभिया विहाय
गच्छन् विहायसि परिक्रमिमातनोति ।
भूयश्च सन्निहितशालिनि वर्तमानो
हंसः स्तवीति तव कारुणिकप्रवृत्तिम् ॥ २१ ॥

तत्र विचित्रैव दशा मृगराजस्य । यथा—

सिंहो मत्तगजेन्द्रकुम्भदलने नासेवते विक्रमं
क्रोडायातमपि क्षुधासहृदयो नो हन्ति तद् धेनुकम् ।
नादत्ते सलिलं च शुष्करसनो घर्माकुलो विह्वलः,
किन्तु त्राणमनाप्य घोरविपिने भीत्या परिभ्राम्यति ॥२२॥

गजस्तु—

नागो नैव सरोरुहेषु विचरत्याभ्रान्तचित्तो भिया
मन्दं मन्दमुपैति नीरकवनात्सम्यक् क्षुधार्तः कुलः ।
आलोक्यापि निजां प्रियां स्वनयने सोच्छ्वासमामीलयन्
निद्रोत्थं स्वमलङ्घितं मृगयते नीचं त्वनोचरितिः ॥२३॥

किं बहुना—

> व्यालो याति समूषकश्चटकिका श्येनान्विता निर्भया
> काकोलूककुलं परस्परमहो गोव्याघ्रमास्कन्दयत् ।
> तप्तः सूर्यकरैर्निषीदति शशो व्याघ्रोदरानातपे
> सर्वे प्राणभिया प्रयान्ति विदिशो नो शत्रुमाच्छिन्दते ॥२४॥

सुगमत्वान्न व्याख्यायन्ते । अन्याख्यश्लोकाः सरेषु प्रकाशिताः ।

अथ चरः आरण्यकानां वृत्तान्तं वर्णयति—फेरुरिति । फेरु—पादद्वयमात्रे स्थितः, किञ्चित्स्वल्पमेव, ऊर्ध्वमुपरिभागे, समुन्निता उन्नता, तनुः—शरीरं, यस्य सः, तथोक्तः सन्, द्रष्टुमीहा—चेष्टा, विधत्ते—करोतीत्यर्थः । अहमवलोकयेय मा न कश्चिदवलोकयत्विति किञ्चिद्देशोचितष्ठति, एष खलु शृगालदर्शनप्रकारः । तथा फेत्कुर्वन्—फेत्कारशब्दं कुर्वन्, स्थानतः—एकस्मात्स्थानात्, अन्यत्स्थानं गच्छन्सन्, स्वान्—शृगालान्, मृगयते—अन्वेषयति । वाशितस्य क्रमेण तिरश्चां शब्दानुसृत्या 'तिरश्चां वाशितं रुतम्' इत्यमरः । स्वेषु—स्वकीयेषु, शृगालसमूहे सहसा व्रजति-गच्छतीत्यर्थः । एष खलु शृगालस्वभावः, परस्परं शब्दं कुर्वन्तः शब्दानुसरणेन एकत्रामिलन्तीति भावः ॥ १६ ॥

अथ सर्वेषामारण्यानां संभूय दशां दर्शयति—व्याल इति । व्यालः—सर्पः, समूषकः—मूषकेण सहितः, याति । चटकिका—गृहादिष्ववस्थायिनी पक्षिणी, श्येनेन अन्विता सती निर्भया याति । स्त्रीणां स्वभावत एव भयं भवतीति चटकिकेत्युक्तम् । परं भवदाखेटभयापेक्षया स्वाभाविकमपि श्येनभयमल्पमेवेति श्येनान्विता याति । अथवा श्येनस्ततोऽप्यधिकतरभीतः प्रतिभातीति तेनान्विता याति, स्वयमयं भीतो न मां मारयिष्यतीति श्येनान्विता गच्छतीति भावः । एवं सर्वत्र तर्कणीयम् । चटकिकेत्यत्र 'उदीचामातः स्थाने॰' इति वैकल्पिक इकारः । अहो इत्याश्चर्ये, काकोलूकस्य कुलं गोव्याघ्रं च, परस्परम्-अन्योन्यमास्कन्दयत्—संमृद्नत्, याति । गोव्याघ्रमत्र 'येषां च विरोधः शाश्वतिकः' इत्येकवद्भावः । तथा सूर्यकरै-

रावतकृष्णः—

एवं च भवत्प्रतापसमुद्वेजितकिरितरक्षुशार्दूलकण्ठीरवभल्लूकलुलायखड्गिजम्बुकगोधेरशल्यवृककुरङ्गचीनचमूरुशम्बरगवयशशादिभिर्भयादितस्ततो भ्रमद्भिः क्रूरहिंस्रकसत्त्वैः समन्ततो व्याप्तमिवारण्यमिदानीं संपद्यते ।

स्ततः—घर्माकुलः, शशः व्याघ्रोदरस्य, अनातपे–छायायां, निषीदति। शशस्य स्वभाव एवायम्, यदयं गच्छन्नन्स्वल्पामपि छायामवलोक्य तत्रैव निषीदति। सर्वे–पक्षिसरीसृपजङ्गमादयः प्राणभिया–स्वप्राणभयेन, विदिशः–विरुद्धदिशः, प्रयान्ति गच्छन्ति, शत्रुं–रिपुं, नो आच्छिन्दते–नैव मारयन्तीत्यर्थः । आरण्यकानामत्यन्तभयजनकत्वात्तव प्रभावस्य लोकातिशयित्वं बोध्यते ॥ २४ ॥

एवं चेति । आरण्यकानां दिग्गामित्वेन तव प्रतापेन समुद्वेजितैः, किरीत्यारभ्य शशादिपर्यन्तस्य द्वन्द्वः तत्र किरिः–सूकरः, तरक्षुः–चित्रकः, चीता इति लोके प्रसिद्धः, शार्दूलः–व्याघ्रः, कण्ठीरवः–स्कन्धदेशे सटायुक्तः सिंहः, भल्लूकः–ऋक्षः, भालू इति लोके, लुलायः–महिषः, खड्गी–गण्डकः, गैंडा इति लोके, जम्बुकः–शृगालः, गोधेरः–गोह इति प्रसिद्धः पुंजातीयः सरीसृपः, शल्यः–सूच्याकारलोमा स्याह इति लोके प्रसिद्धः, वृकः–क्षुद्रगर्दभसमकायः अजाभक्षकः भेड़हा भेड़िया वेति लोके प्रसिद्धः, कुरङ्गः–मृगः, चीनः–अजासदृशो हरिणविशेषः, घोड़ इति लोके, चमूरुः–चित्रकबिन्दुयुक्तो हरिणविशेषः, शम्बरः–कृष्णवर्णो हरिणः, गवयो–गोसदृशो गलकम्बलरहितः पशुः, शशः प्रसिद्धः । अन्यत्सुगमम् ।

अथ प्रतापनिश्चयमाह—तर्हीत्यादि । यदि हिंस्रकसत्त्वैर्व्याप्तमरण्यमस्ति, तर्हि क्रूराः–दुष्टस्वभावाः ये वृकभल्लूकादयः, तथा हिंस्रकाः–हिंसनशीलाः, ये व्याघ्रादय आरण्यकास्तेषां, संशोधनाय–मारणार्थं, पुनरपि यतितव्यम्, यद्यपि पूर्वं संशोधितं परं नाद्यापि सर्वथा शुद्धं जातमिति पुनररि संशोधने यत्नः कर्तव्यः । एतेनास्य स्वभावे धैर्यमवगम्यते ।

प्रतापः—तर्हि क्रूरहिंस्रकसत्त्वानां संशोधनाय पुनरस्माभिः प्रयतितव्यम् ।

सालुम्बशक्तिप्रभृतयः—अवश्यमेव । सालुम्बः शृणु घुर्घुरायमाणः कोल इत एव आगच्छतीव ।

प्रतापशक्ती—साधु साधु, अस्माभिरप्यवगम्यते ।

अत्रान्तरे घुर्घुरघोररावी
कोलः समुद्वेजितवीरवर्गः ।
अरण्यगो मर्मरपर्णशब्दात्
प्रतापशक्त्योरथ लक्ष्यगोऽभूत् ॥ २५ ॥

प्रतापः—आकर्णमाकृष्य निशातबाणं
क्षिप्नोति कोले सहसा निहन्तुम् ।
अलक्षितः सन्स विभिद्य लक्ष्यं
जगाम भूमौ न च लक्षितोऽभूत् ॥ २६ ॥

अथ तत्रागतं वराहं वर्णयति—अत्रान्तर इति । अत्रान्तरे-अस्मिन्नवसरे, घुर्घुर इति, घोरं-भयंकरं, रवितुं शीलमस्येति घुर्घुरघोररावी, सम्यक् प्रकारेण उद्वेजितः, वीरवर्गः वीरसमूहः येन स तथा । कोलः-वराहः, शतशोऽश्वान् जङ्घान्तरे विदीर्य, एष खलु वराहस्वभावः, यदयं जङ्घान्तरे प्रविश्य अश्वानामण्डकोशं विदारयतीति, सत्कृत्वा । अथ प्रतापशक्त्योः-प्रतापसिंहशक्तिसिंहयोः 'भ्रातुर्ज्यायसः' इति प्रतापेत्यस्य पूर्वनिपातः । लक्ष्यगो लक्ष्यविषयोऽभूत् । प्रतापशक्तिभ्यां युगपद् दृष्ट इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ वराहदर्शनानन्तरं तयोः कृत्यमाह—

आकर्णमिति । प्रतापः, निशातबाणं-तीक्ष्णबाणम्, आकर्णं कर्णपर्यन्तम्, आकृष्य सहसा कोले क्षिप्नोति, बाणेन वराहं जघानेत्यर्थः । अत्र आकर्णमाकर्षणेन वेगातिशयित्वं निशातत्वेन अप्रतिहतशक्तितया अन्तर्गा-

(शक्तिरपि कोलं लक्ष्यं विधाय बाणं मुञ्चति ।
स तु प्रतापबाणमार्गेणैव निर्गतः
कोलः घोरशब्दं विधाय मृतः ।)

प्रतापः—(अरण्ये गत्वा मृतं कोलमवलोक्य स्वबाणमन्विष्यन् तमप्राप्य शक्तिबाणमुत्थापयति ।)

शक्तिः—राजन् मया निहतः किरिः, मदीयोऽयं शरः इति मा ग्रहीः ।

प्रतापः—नहि २ मयैव किरिर्निहतः मौनमास्ताम् ।

मित्थं सूच्यते । सः बाणः प्रक्षेपक्षणमनन्तरमेव अलक्षितः सन्, लक्ष्यं वराहरूपं शरव्यं, विभिद्य तस्मान्तः प्रविश्य, भूमौ जगाम, तदनन्तरमपि न च लक्षितोऽभूत्, भूमावपि प्रविशन् नैव लक्षितो जात इत्यर्थः । वराहं विभिद्य भूमावन्तः प्रविष्ट इति तात्पर्यार्थः । एतेन लोकातिशय बलवत्त्वं प्रतापस्य व्यज्यन्ते ॥२६॥

अथ वराहतनोः प्रतापबाणनिःसरणानन्तरमाह—शक्तिसिंहोऽपि शरं मुञ्चति । येन मार्गेण प्रतापस्य शरो निःसृतस्तेनैव मार्गेण विनिर्गतोऽभूत् बहिर्विनिःसृतोऽभूत् । स लक्षितोऽपि, बहिर्निस्सरणसमये निःसरणानन्तरं च सर्वैर्दृष्ट इत्यर्थः । एतेन प्रतापबलापेक्षयाऽस्य स्वल्पबलवत्त्वं सूचितं भवति, यतो हि प्रतापशरो वराहं विभिद्य निर्गतोऽलक्षितश्च । शक्तिशरस्तु वराहशरीरमविभिद्य प्रतापशरनिर्मितमार्गेणैव निस्सृतो न भूमौ प्रविवेश, किन्तु बहिः पतितः, सर्वैर्लक्षितश्च । अत एव वास्तविकेऽपि प्रतापकृतविघाते प्रमाणाभावात्, अवास्तविके शक्तिकृतविघाते प्रमाणोपलब्धेः 'मया प्रतापेन अयं हतः, नात्र त्वदुक्तौ किमपि प्रमाणम्' 'मया शक्तिसिंहेन अयं हतः' एवं तयोः प्रतापशक्तिसिंहयोर्विवादः—कलहः, अभवदेव । इति विरोधे बीजम् ।

तमस्तकर्णं तत्रस्थैः सर्वैरप्युच्यते) वसुंधरे ! केयं ते दशा भाविनी ।

प्रतापः शक्तिरहितो न जेतुं प्रभविष्यति ।
वसुधे हा निगडिता नीचानां मा वशं गमः ॥२८॥

अथ विवादस्य भयंकरताबीजं दर्शयति—आवयोरिति । तव च मम चेति । 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इत्येकवद्भावः । आवयोः खड्गः-खड्गपदं शस्त्रोपलक्षकम्, कुन्तो वा बाणो वा । स्वयमेव, निर्णयं-केन वराहो हत इति निश्चयम्-विधास्यति । अत्र निर्णये यस्य जयो भवेत्तेनैव किरिवराहो निहतः । यस्य जयो भविष्यति स एव शूर इति कृत्वा तत्कृतमेव वराहहननमिति स्वत एव निश्चयो भविष्यतीति तात्पर्यार्थः ॥२७॥

शक्तिसिंहोऽपीत्यादि सर्वं सुगमम् । युद्धादौ तयोः स्वरूपं प्रदर्शयति—

पराधीनताप्राप्तेस्तवेयं का दशा भाविनीत्याह—प्रताप इति । शक्तिरहितः—प्रतापस्य शौर्यशालितया शक्तिसिंहस्यैव नाशो भविष्यतीति शक्तिसिंहरहितः, अथवा—भ्रातुर्मारणेन प्रभावोत्साह-

रामगुरुः—(उभौ संबोध्य वदति) भोः २ स्वस्वसंरम्भादुभौ विरमताम् ,जीवतोरुभयोर्देशः दास्यं नोपगच्छेत् अन्यथा युष्मदर्थं मया आत्मोत्सर्गः क्रियते ।

(इत्युक्त्वा अकालजलद इव निघुष्य उभावन्तरा समुपस्थितः ।)

(यदा एवमपि प्रतापशक्ती स्वस्वसंरम्भान्न विरतौ, तदा पुरोहितो रामगुरुः पश्यतोर्द्वयोर्मध्ये उपेत्य स्वं हृदयं भित्त्वा छुरीेन न्यपतत् ।)

(तदनन्तरं रक्ताप्लुतदेहं भूमौ लुठन्तं तयो रक्षकं देशस्योपकृतौ मुमूर्षुं किमपि साहसं विदधतं तं रामगुरुं दृष्ट्वा भूरक्षणे प्रजासु अनिर्वचनीयं साहसमभूत् । अथ रामगुरुमवलोक्य तौ द्वावपि विरतौ ।)

मन्त्रशक्तिरहितः प्रतापः जेतुं म्लेच्छाधिपतिमकबरं विजेतु न प्रभविष्यति—न समर्थो भविष्यति । हा इति शोके । हे वसुधे ! सर्वसमृद्धिसम्पूर्णे ! त्वं निगडिता—परायत्तत्वेन पदयोर्बद्धा सती, नीचानां यवनजातीयानां वशं, मा गमः—न प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

अथ रामगुरुरात्मपातोद्देश्यं श्रावयति । युवयोर्जीवतोः, देशः-अस्माकं मातृभूमिर्मेवाडः, दास्यं दासता नैवोपगच्छेत् । देशस्वातन्त्र्य-रक्षार्थम् आत्मोत्सर्गः—आत्मघातः, मया विधीयते, यथा सहर्षं देश-रक्षार्थं मया प्राणत्यागः क्रियते तथैव युष्माभिरपि कर्तव्यम् । देश-स्वातन्त्र्यार्थं प्राणास्तृणवत् त्याज्या इति तदाशयः । अन्यत्सर्वं सुगमम्

अथ रामगुरोः कृत्यमाह—सः—रामगुरुः, पश्यतोर्द्वयोः मध्ये उपेत्य छुरीेन—चर्मास्त्रेण, स्वं—स्वकीयं हृदयं भित्त्वा विदार्य तयोः—पूर्वोक्तयो-र्भ्रात्रोः-प्रतापशक्तिसिंहयोः, रक्षकं, देशस्योपकृतौ—देशोपकारार्थं तदीय-त्यागं—देशस्वातन्त्र्यार्थं स्वकीयप्राणत्यागरूपं रामगुरोः कृत्यं दृष्ट्वा, प्रजासु-प्रजामध्ये,देशरक्षणे-मातृभूमिरक्षाया लोकातिशायित्वादनिर्वचनीयं

शक्तिः—(सगर्वं साभिमानं च) नहि २ मया हतोऽयम् ।

प्रतापः—आवयोर्निर्णयं खड्गः स्वयमेव विधास्यति ।
जयो यस्य भवेदत्र तेनैव निहतः किरिः ॥ २७ ॥

शक्तिः—आगच्छ ते गर्वं चूर्णयामि ।

पुरो०—'नैतद् युक्तम्, मैवं विदध्याः, भ्रात्रोः संग्रामो नैवोचितः', इति वदत्स्वेव पुरोहितादिषु द्वावपि प्रतापशक्तौ स्वस्वकुन्तौ समुत्थाप्य योद्धुं सन्नद्धौ ।

(ततः क्रोधास्फुरिताधरोष्ठौ आरक्तविशालविस्फारितनयनौ अकाण्डप्रलयकालसमुद्रसमभयंकरनिनादौ अन्योन्यमाक्रमितुं हन्तुं च प्रवृत्तौ ।)

(ततस्तकर्णं तत्रस्थैः सर्वैरप्युच्यते) वसुंधरे ! केयं ते दशा भाविनी ।

प्रतापः शक्तिरहितो न जेतुं प्रभविष्यति ।
वसुधे हा निगडिता नीचानां मा वशं गमः ॥२८॥

अथ विवादस्य भयंकरतावीजं दर्शयति—आवयोरिति । तव च मम चेति । 'त्यदादीना मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' इत्येकवद्भावः । आवयोः खड्गः-खड्गपदं शस्त्रोपलक्षकम्, कुन्तो वा बाणो वा । स्वयमेव, निर्णयं-केन वराहो हत इति निश्चयम्-विधास्यति । अत्र निर्णये यस्य जयो भवेत्तेनैव किरिर्वराहो निहतः । यस्य जयो भविष्यति स एव शूर इति कृत्वा तत्कृतमेव वराहहननमिति स्वत एव निश्चयो भविष्यतीति तात्पर्यार्थः ॥२७॥

शक्तिसिंहोऽपीत्यादि सर्वं सुगमम् । युद्धादौ तयोः स्वरूपं प्रदर्शयति—पराधीनताप्राप्तेस्तवेयं का दशा भाविनीत्याह—प्रताप इति । शक्तिरहितः-प्रतापस्य शौर्यशालितया शक्तिसिंहस्यैव नाशो भविष्यतीति शक्तिसिंहरहितः, अथवा-भ्रातृमारणेन गृहकलहतया प्रमायोत्साह-

रामगुरुः—(उभौ संबोध्य वदति) भोः २ स्वस्वसंरम्भादुभौ विरमताम् ,जीवतोरुभयोर्देशः दास्यं नोपगच्छेत् अन्यथा युष्मदर्थं मया आत्मोत्सर्गः क्रियते ।

(इत्युक्त्वा अकालजलद इव निर्घुष्य उभावन्तरा समुपस्थितः ।)

(यदा एवमपि प्रतापशक्तौ स्वस्वसंरम्भान्न विरतौ, तदा पुरोहितो रामगुरुः पश्यतोर्द्वयोर्मध्ये उपेत्य स्वं हृदयं भित्त्वा क्षणेन न्यपतत् ।)

(तदनन्तरं रक्ताप्लुतदेहं भूमौ लुठन्तं तयो रक्षकं देशस्योपकृतौ मुमूर्षुं किमपि साहसं विदधतं तं रामगुरुं दृष्ट्वा भूरक्षणे प्रजासु अनिर्वचनीयं साहसमभूत् । अथ रामगुरुमवलोक्य तौ द्वावपि विरतौ ।)

मन्त्रशक्तिरहितः प्रतापः जेतुं म्लेच्छाधिपतिमकबरं विजेतुं न प्रभविष्यति—न समर्थो भविष्यति । हा इति शोके । हे वसुधे ! सर्वसमृद्धिसम्पूर्णे ! त्वं निगडिता—परायत्तत्वेन पदयोर्बद्धा सती, नीचानां यवनजातीयानां वशं, मा गमः—न प्राप्नुहि ॥ २८ ॥

अथ रामगुरुरात्मघातोद्देश्यं श्रावयति । युवयोर्जीवतोः, देशः-अस्माकं मातृभूमिर्मेवाडः, दास्यं दासतां नैवोपगच्छेत् । देशस्वातन्त्र्य-रक्षार्थम् आत्मोत्सर्गः—आत्मघातः, मया विधीयते, यथा सदर्पं देश-रक्षार्थं मया प्राणत्यागः क्रियते तथैव युष्माभिरपि कर्तव्यम् । देश-स्वातन्त्र्यार्थं प्राणास्तृणवत् त्याज्या इति तदाशयः । अन्यत्सर्वं सुगमम्

अथ रामगुरोः कृत्यमाह—सः—रामगुरुः, पश्यतोर्द्वयोः मध्ये उपेत्य क्षणेन—चणमात्रेण, स्वं—स्वकीयं हृदयं भित्त्वा-विदीर्य तयोः—पूर्वोक्तयो-र्भ्रात्रोः प्रतापशक्तिसिंहयोः, रक्षकं, देशस्योपकृतौ—देशोपकारार्थे तदीय-त्यागं—देशस्वातन्त्र्यार्थं स्वकीयप्राणत्यागरूपं रामगुरोः कृत्यं दृष्ट्वा, प्रजासु प्रजामध्ये,देशरक्षणे-मातृभूमिरक्षायां लोकातिशायित्वादनिर्वचनीयं

प्रजा० आः—किमिदं जातम् । इति प्रतापे कथयत्येव रामगुरु-मुत्थाप्य कर्णारावतकृष्णौ क्वचिन्नीतवन्तौ । प्रतापः शक्तिसिंहं संबोध्य ब्रवीति । रे शक्ते! त्वत्कृत एव इदं जातं, तस्मात्त्वं मेवाडभूमेरपसर ।

शक्तिसिंहः—(निःश्वस्य साश्रुनयनः सर्वान्सालुम्बादीन्विलोक्य भूमिं प्रणम्य च ।)

क्षमे ! क्षमस्वैतदवेहि सूनुः कुक्षौ न जातस्तव दुर्जनोऽयम् ।
मेवाडदेशं यदसौ श्मशानभूमिं विधायैव सुखं मिमीते ॥२६॥

साहसम् अभवत् । तथाभूतं तत्कृत्यमवलोक्य सर्वेऽपि तृणवत्प्राणान-मन्यन्तेत्यर्थः ॥

त्वत्कृते एवेति । अत्र त्वमेवापराधी । तव लघुत्वाद् गुरुकथ-नानन्तरमप्यविरामात्, ज्येष्ठस्य ममानादरकरणाच्चेदं जातम् । तस्मात्तथाभूतस्य पातकिनः पवित्रभूमेरपसरणमेव श्रेय इति तदादिशति—तस्मात्त्वमित्यादिना ।

अथ शक्तिसिंहोऽपि निःश्वस्येति स्वापराधाभावं मन्यमानोऽनुचित-दण्डावगतेः साश्रुनयनः इति सालुम्बादीनां वियोगात्, स्वकीयकर्तव्य-विरुद्धमेवाडध्वंसनिश्चयकरणाच्च ।

अथ शक्तिसिंहः निश्चयं प्रदर्शयति—क्षमे इति । क्षमे-क्षमास्वरूपे, परमसहनशीले, क्षमस्व-उचितकर्तव्यतापरित्यागेन ममापराधं क्षमस्व । अथवा, पक्षान्तरं दर्शयति-त्वमेतदवेहि-जानीहि । अयं-प्रत्यक्षतया विद्यमानः, दुर्जनः-खलः, सूनुः-दुष्टपुत्रः, तव कुक्षौ न जातः मातृभूमि-रक्षणवीरप्रसवायास्तव कुक्षेर्मादृशस्य देशद्रोहिणो दुष्टपुत्रस्य जन्म न संभवतीति त्वमेतदवगच्छ, नायं मेवाडभूमेर्जातः । तथावगमने कारण-माह । यद् यस्मात्कारणाद्, अयं मेवाडदेशं श्मशानतुल्यं विधायैव सुखं मिमीते । स्वकीयां मातृभूमिं श्मशानतुल्यां कृत्वा सुखमसौ मनुते इति नैतादृशस्य त्वत्तो जन्म संभवतीति नायं मेवाडभूमेरुत्पन्न इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पटोन्नयनम्—अकबरः स्थितः

द्वार०—जेदुजेदु देओ। कोवि इंदजालिओ दुआरे ठिओ।
जयतु जयतु देवः। कोऽपि ऐन्द्रजालिकः द्वारे स्थितः।

अक०—(विचिन्त्य) ऐन्द्रजालिकवेषेण प्रेषितः मुहम्मदनामाचरः। (प्रकाशम्) प्रवेशय। (द्वारपालः तं प्रवेश्य निष्क्रान्तः।)

अक०—ऐन्द्रजालिक रामगुरोर्मरणे शक्तिसिंहनिष्काशनान्तरं कथय।

ऐन्द्र०—तदनन्तरं स मेवाडं श्मशानं विधास्ये इत्युक्त्वा परावृत्य सवेगं तत्स्थानात्प्रचलितः। सकरुणं विलपन्तं प्रतापमवलोक्य सर्वे तदुन्मुखा अभवन्, अहमपि तेषां चक्षूंषि प्रतार्य शक्तिसिंहमनुप्रचलितः।

अक०—ततस्ततः —

ऐन्द्र०—तदनन्तरमहं वर्त्मनि शक्तिसिंहं समुज्ज्वलयन् प्रोत्साहयंश्च इहानीतवान्। तं च युष्मदीयायतनशालायामुपवेश्य अहमिहायातः। मन्ये स स्वयमेव स्वल्पेनैव कालेन समुपस्थास्यते, अतः परं भवन्तः प्रमाणम्।

अक०—मुहम्मद! तवैतत्कार्येण अहमतिप्रसन्नोऽस्मि, अतस्त्वां सर्वगुप्तचराणामाधिपत्ये स्थापयामि।

ऐन्द्र०—अनुगृहीतोऽस्मि।

आयतनशालायामिति धर्मशालायाम्—यत्र पान्थास्तिष्ठन्ति। अन्यत्सुगमम्।

अथाकबरस्य चिन्तास्वरूपमाह—नाद्यापीति। सः–प्रसिद्धः, कण्टक इवारिः–शत्रुः, मेवाडपतिः–यवनानां मदपाटकत्वान्मदपाटकः, मदपाटक एव प्राकृते मेवाड इति सिद्ध्यति। सोऽयं लौकिकसंज्ञाबोधको मेवाड-स्तस्य पतिः, यवनमदपाटकदेशाधिपतिः प्रतापः, अद्यापि मन्निघ्नता–मद-धीनता, न याति न प्राप्नोति। यावत्सः स्वतन्त्रः सन् भूम्यां विचरेत्ता-

अक०—गच्छ, विश्राममाचर। अहमत्रैव स्थितः शक्तिसिंहं प्रतीक्षे।

(इति निष्क्रान्त ऐन्द्रजालिकवेषधारी मुहम्मदः।)

(अकबर एकाकी स्थितश्चिन्तयति।)

(मनसि)

अक०—नाद्यापि मेवाडपतिः प्रतापो
मन्निघ्नतां याति स कण्टकारिः।
यावत्स्वतन्त्रो विचरेत्स भूम्यां
तावत्कथं स्यान्मम सौख्यगन्धः॥ ३०॥

(विचार्य सहर्षमिव)

प्रतापः शक्तिनिर्मुक्तो जेतव्योऽल्पान्मयोद्यमात्।
मानसिंहो मम पदौ तं ध्रुवं पातयिष्यति॥ ३१॥

(पुनः किंचिद्विमृश्य) परं मानः क्षत्रियपक्षपाती विशेषतो मेवाडीयेषु बद्धादरः। तैः सह कथमसौ वैरायिष्यते। (पुनर्विमृश्य) संभावयामि दक्षिणदेशं विजित्य परावर्त्त-

---

यन्मम सौख्यगन्धः सौख्यसम्बन्धः, 'गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः' इति विश्वः, कुतः स्यात्। तत्स्वतन्त्रतायां मम सौख्यसम्बन्धस्य संभावनापि नास्तीत्यर्थः॥ ३०॥

कथमयं प्रतापो मदधीनतां प्राप्स्यतीति विचारयस्तदुपायोपगतेः सहर्षमिव कथयति—शक्तीति। मया शक्तिरहितः—परित्यक्तशक्तिसिंहः, प्रतापः, अल्पादुद्यमात्—स्वल्पादेवोद्योगाज्जेतव्यः। मानसिंहो मम पदौ तं प्रतापं, ध्रुवं—निश्चयेन पातयिष्यति। मानसिंहस्तं मदधीनतां प्रापयिष्यतीत्यर्थः॥ ३१॥

सेनापतिः संदिश्यतामिति। अत्रायं गूढाभिसन्धिः। कदाचिच्छक्तिसिंह एकाकिनं मामवलोक्य आक्रमेत्, तदाऽयं शूरः साहसिकश्च

मानो मानो मेवाडाधिपतेः प्रतापस्य सविधे तद्रहस्य-
परिज्ञानाय मया सह सम्बन्धयितुं चोन्मार्गेणापि उदय-
पुरं गमिष्यति। तत्र मत्पक्षपातिनं मानं प्रतापो न
संमानयिष्यति। मन्ये तेन मानस्तत्रासंतुष्टः स्यात्।

(पुनः सखेदम्) काश्मीराङ्गकलिङ्गवङ्गमरुभृत्सौराष्ट्रकर्णाटका
मत्स्यः केरलकेकयान्ध्रमगधाः पाञ्चालगान्धारकौ।
मद्रः कोशलकच्छगुर्जरभुजाः सौवीरसिन्धुव्रजाः
एते मे वशगाः परं लघुतमो नाद्यापि मेवाडकः॥ ३२॥

अस्तु—जितः कर्णाटको येन स मानः साभिमानिकः।
ध्रुवं संमानतः स्वल्पान्मेवाडं नाशयिष्यति॥ ३३॥

आगराख्यस्वराजधान्यां स्थितस्य अकबरस्य चिन्तां प्रदर्शयति—काश्मीरेति। काश्मीरः प्रसिद्धः, अङ्गः-विहारप्रदेशान्तर्गतः, कलिङ्गः-बङ्गालप्रान्तीयो देशः, वङ्गः-बङ्गालः, मरुभृत्—मरुधरः, सौराष्ट्रः-सोमनाथ-महादेवस्थितिप्रान्तीयो देशः, काठियावाडः। कर्णाटकः-प्रसिद्धः, मत्स्यः-धवलपुरप्रान्तीयो देशः, केरलः मलाबारः। केकयः-काश्मीर-चम्बामध्यवर्ती पर्वतप्रदेशस्थितो देशः। अत्रत्यैव कैकयीति वाल्मीकावस्ति। आन्ध्रः-स्वनामप्रसिद्धः, मगधः—भोजपुरप्रान्तीयः, पाञ्चालः कान्यकुब्जो देशः, गान्धारः—खान्धारेति नाम्ना प्रसिद्ध इत्येके, जम्बूप्रान्तीय इत्यन्ये। मद्रः-माँझा इत्येके, चम्बा इत्यपरे। कोशलः-अयोध्याप्रान्तस्थितः, कच्छगुर्जरभुजाः—स्वस्वनाम्ना प्रसिद्धाः, सौवीरः-मारवाडमेवाडयोर्मध्यस्थितो देशः। सिन्धुः-सिन्धुनाम्ना प्रसिद्धः व्रजाः-मथुराप्रान्तीयः एते मे वशगाः ममाज्ञानुगामिनः, परं लघुतमः स्वल्पः कुत्सितो मेवाडो मेवाडकः, 'कुत्सिते' इत्यनेन, 'संज्ञायां कन्' इत्यनेन वा कन्। अद्यापि न वशगः। विभक्तिविपरिणामेन योज्यम्। बृहत्तमानां देशानामात्मवशगामित्वेऽपि स्वल्पस्य मेवाडस्य स्ववन्नत्वाच्चिन्तातिशयो द्योत्यते॥ ३२॥

अथ पुनस्तदुपायलाभाच्चिन्तां निरास्यत्—जित इति। येन-

(पुनर्विचिन्त्य)

आः ! दुर्जयः प्रतापः । तदीयसैनिका अपि स्वस्वभुजदण्डखण्ड्यमानासंख्यतरक्षुभल्लूकपञ्चाननसूकराः परमसाहसशौर्यालवेदपेसंपन्नाः स्वभूमिरक्षणदृढव्रताः सन्ति । जीवत्सु तेषु कथमसौ जय्यः ।

(अत्रान्तरे प्रविशति दौवारिकः ।)

दौवा०—जेदु जेदु महाराओ ।
जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—किमस्ति ।

दौवा०—मेवाडओ आयाओ सत्तिसीहो छत्तिओ दुवारि चिट्ठइ ।
मेवाडत आयातः शक्तिसिंहनामा क्षत्रियो द्वारि तिष्ठति ।

अक०—दौवारिक !
संदिश्यताम् सेनापतिः "मन्नियोगाद् बहुमानपुरस्सरमेनं प्रवेशयतु ।"

दौवा०—जं देवो आणवेदि ।
यद् देव आज्ञापयति । (इत्युक्त्वा सेनापतिं संदेष्टुं गच्छति ।)

अस्मत्सेनापतिना, कर्णाटको देशो जितः सः, अभिमानेन सह चरतीति साभिमानिकः—अत्यधिकाभिमानयुक्तः । एतेन अस्मद्गुढाभिसन्धिवशात् कर्णाटकविजयानन्तरं मेवाडं गच्छन्मानोऽपमानितो भविष्यतीति साभिमानिकत्वेन स्वत एव वैरायिष्यत इति सूचितं भवति । मानः-मानसिंहः, ध्रुवं स्वल्पात्संमानतः मेवाडं-मेवाडदेशाधिपतिं, नाशयिष्यति । तन्नाशात्त्वाधिपत्यमस्माकं भविष्यतीति, भावः ॥ १३ ॥

दुर्जय इति । 'ईषद्दुःसुषु०' इति खल् । स्वस्वभुजदण्डेन खण्ड्यमानत्वात् परमसाहसिकत्वं सूच्यते । स्वभूमिरक्षणदृढव्रतत्वेन उपायान्तराभावः सूचितो भवति । जय्य इति । 'क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे' इत्ययादेशः ।

(ततः प्रविशति सेनापतिसहितः शक्तिसिंहः।)

शक्ति०—

प्रोद्यद्दर्पान्धकाराधिकृतसदसदज्ञानमूढान्तरात्मा
मिथ्याहङ्कारफल्गूकृतनिखिलजगद्वीरशौर्यप्रपञ्चः।
नीचानामाश्रयाद् यो व्रजति गिरिमहीं भीतभीतः प्रताप-
स्तद्ध्वंसमिच्छन् वदति भगवतो वन्दकी शक्तिसिंहः॥३४॥

अक०—कस्मादयं प्रकोपः?

शक्ति०—(सक्रोधम्) आः! मया निपातितो वराहस्तमात्म-कृतं मन्यमानः प्रतापो बहुभिर्बहुशो बोधितोऽपि नामन्यत, प्रत्युत मयैव सह योद्धुमारभत। परन्तु यदि रामगुरुरन्तरा स्वात्मत्यागेन नागमिष्यत्तदा स मृत एवाभविष्यत्, मन्ये तद्धवमेव एनमरक्षयत्।

अथ शक्तिसिंहः स्वाभिप्राय दर्शयन् यवनप्रथानुरूपां भगवती वन्दनामाह—प्रोद्यदिति। प्रोद्यदतिशयेन विवर्धमानो यो दर्पोऽभिमानः स एव अन्धकारस्तेन अधिकृतं स्वायत्तीकृत यत्सदसद्विषयकमज्ञानं तेन मूढः सर्वथा ज्ञानशून्योऽन्तरात्मा यस्य स तथा। मिथ्याहङ्कारेण-पुरुषार्थरहितवृथाभिमानेन, फल्गूकृतः-असारतया दर्शितो निखिलजगद्वीराणां-समस्तसांसारिकशूराणां, शौर्यप्रपञ्चः-पराक्रमविस्तारो येन सः। मिथ्याभिमानतया स्वसदृशं कमपि नायं मन्यत इति भावः। तथा यः प्रतापः नीचानां भिल्लमीणादीनामाश्रयात्-तेषां साहाय्यात्, भीतभीतः-अतिभीतः सन्, पर्वतमहीं-कन्दरामधित्यकां च व्रजति तदाश्रयतया तत्र तिष्ठतीत्यर्थः, तद्ध्वंसमिच्छन्-तस्य प्रतापस्य ध्वंसं नाशयितुमिच्छन्, शक्तिसिंहो भगवतो वन्दकी वदति। वन्दकीमिति 'संज्ञायाम्' इति ण्वुल्। यद्वा-'पर्यायार्हर्णोत्पत्तिषु ण्वुच्' इत्यनेन ण्वुल्, गौरादेराकृतिगणत्वात् गौरादित्वात् ङीप्॥ ३४॥

कस्मादयमित्यादि सर्वं सुगमम्।

अकबरः किमयमस्य द्वेषो वास्तविकः किं वा कृत्रिम इति मनसि विचारयन्निभिनोनि-आरक्तेति। आ-समन्ताद्, रक्तं-रक्तवर्णं, नेत्रयुगलं-नेत्रयुग्मं,

अक०—एवमेवैतत् । अस्तु । अतः परं किमभीप्सितम् ।

शक्ति०—समूलं मेवाडदेशमुन्मूलयितुमिच्छामि । अत किञ्चित्सेनासाहाय्य प्रार्थये ।

अक०—(मनसि) ।

आरक्तनेत्रयुगल स्फुरिताधरोष्ठो
रोषप्रकम्पिततनुर्ज्वलदुक्तियुक्तिः ।
जीर्णोऽपि तत्कथनतो नवभासमानो
द्वेषोऽस्य तन्निहनने परिशुद्ध एव ॥ ३५ ॥

(प्रकाशम्)

लंकामिवाहं मेवाडं जित्वा गर्वसमुद्धतम् ।
अभिषेक्ष्यामि तत्र त्वा यथा रामो विभीषणम् ॥ ३६ ॥

परतु यावन्मानसिहो दक्षिणदेशं विजित्यायाति तावत्प्रतीक्षस्व । तदागमनानन्तरमेव —

यस्मिन्स तथा । स्फुरित ईषत्स्पन्दितोऽधरोष्ठो यस्मिन्स , रोषेण प्रकम्पिता तनु शरीर यस्मिन्, ज्वलन्ती क्रोधावेशवशादुद्भटा, उक्तियुक्ति कथनपरिपाटी यस्मिन्स तथा, जीर्णोऽपि कालान्तरतया परिक्षीणोऽपि, द्वेषस्वभाव एवायम् यत्कालान्तरेण स्वत परिक्षीयते, तत्कथनतः तदित्यस्य कथनेन सह कर्मधारयः । तथाभूतकथनेन नवभासमानः नव इव प्रकाशमान ,क्रोध स्याधिक्यान्नाद्यापि जीर्ण इति भाव । षष्ठीतत्पुरुषे तु कृत्रिमता प्रतीयेत । तस्य प्रतापस्य, निहनने-मारणे, अस्य-शक्तिसिंहस्य, द्वेष परिशुद्ध एव । सर्वथा वास्तविक एव विद्वेषो नात्र कृत्रिमताया लेशोऽपीत्यर्थ ॥ ३५ ॥

अथ शक्तिसिंहमुद्दिश्य अकबर कथयति—लकामिति । स्वगर्वातिशय बोधयति । अहमकबरः गर्वसमुद्धतम्-अभिमानोद्धत्ययुक्त मेवाड लकामिव जित्वा जय एवात्र साधारणधर्मा लकामेवाडयो , ततो गर्वसमुद्धतमिति लंकाया न विशेषणम् । तत्र मेवाडे त्वामभिषेक्ष्यामि, यथा रामो विभीषणमभ्यषिञ्चदित्यर्थ । एतेन विभीषण इव त्वमपि मम साहाय्य तद्भेदस्फोटनं च कुर्विति तत्तात्पर्यार्थं ॥ ३६ ॥

अस्मद्दन्तावलघनघटाऽऽच्छाद्यमानप्रतापः
स्फारस्फूर्जन्सघनविचरत्सैन्यगर्जत्रिनादः।
विभ्राजिष्णुप्रचुरविलसद्बाणवृष्टिप्रसारो
मेवाडे मे भवतु जलदः संगरः सैनिकानाम् ॥ ३७ ॥

अथाकबरः शक्तिसिंहस्योत्साहं वर्धयन्कथयति—अस्मदिति। अस्माकं ये दन्तावला हस्तिनस्ते घनघटा इव-मेघपटलतुल्याः, हस्तिनं बहुतरत्वेन श्यामताधिक्यात्, तैः आच्छाद्यमानः प्रतापः-प्रतापाधिको यत्र, यद्वा प्रतापः-प्रभावो यत्र 'स प्रतापः प्रभावश्च यत्तेजः कोशदण्डजम्' इत्यमरः। यत्रास्मद्दन्तावलैः प्रतापप्रभाव आच्छादितो भविष्यतीत्यर्थः -: पक्षे-अस्मद्दन्तावला इव या घनघटाः मेघमालास्ताभिराच्छादितः प्रतापो सतापो यत्र सः। तथा-स्फारः-भूयिष्ठः 'पुरुहूः पुरु भूयिष्ठं स्फारं भूरि च' इत्यमरः। स्फूर्जन्-वज्रनिर्घोषतुल्यः सघनः सशब्दः, विचरत्सैन्यानां गर्जत्रिनादः दर्पेण शब्दो यत्र। पक्षे स्फारः-भूयिष्ठः, स्फूर्जन्-वज्रनिर्घोषरूपः, सघनो-मेघसहित विचरत्सैन्यानामिव गर्जत्रिनादो मेघध्वनिर्यत्र। गर्जश्चासौ निनादः, गर्जधातोः शब्दमात्रवाचकत्वेऽपि मेघशब्दे एव बाहुल्येनोपगमात्। पूर्वत्र शब्दमात्रपरत्वादवगन्तव्यम्। तथा-विभ्राजिष्णुः-शोभमानः प्रचुरविलसत्स्वर्ण-रजतादिपुङ्खतया देदीप्यमानः, बाणवृष्टिप्रसारः-बाणवर्षणविस्तारः यत्र। पक्षे-विभ्राजिष्णुः प्रचुर विलसन् बाणानामिव वृष्टेः प्रसारो यत्र। तथा जलदः-जलं द्यति खण्डयतीति जलदः-जलच्छेदकः, पञ्चमाङ्कगतकोमलमीरसर्वते जले विषप्रक्षेपेण करिष्यमाणं जलच्छेदनं पताकारूपेण सूच्यते। अथवा-डलयोः सावर्ण्यात् जडदः-जडदाता। समस्तवीराणां हननात् अवशिष्टानां युद्धादिकलाशून्यानां मूर्खाणां दाता पक्षे-जलदः-जलैर्भूमिप्लावकत्वान्मेघसदृशः मे-मम, सैनिकानां संगरः-संग्रामो मेवाडे भवतु। अत्र 'सैनिकानां जलदः' मरणानन्तरं दीयमानस्य जलस्य दातेति सर्वेषां सैनिकानां मरणाज्जलदः संगरो भवतु इत्यर्थान्वगतेर्भाविफलबोधकः प्रतापविजयः सूच्यते ॥ ३७ ॥

(सेनापतेरभिमुखम्) सेनापते! त्वमेनमार्यक्षत्रियाणां सैन्याधिपत्ये स्थापय। तावदयं सर्वान् तान् सज्जीकरोतु।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयति भवान्। (इति गन्तुमिच्छति।)

अक०—तिष्ठ तावत्। शक्ते! तुभ्यं कान्धारप्रदेशः प्रदीयते। तस्मात्त्वयाऽस्मदीयसामन्तश्रेणिमधितिष्ठता यथारुचि मदीयगोष्ठ्यामागन्तव्यम्। किञ्च मानसिंहचालिता मदीया सर्वाऽपि आर्यक्षत्रियसेना त्वदायत्तैव।

शक्ति०—अनुगृहीतोऽस्मि।

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके द्वितीयोऽङ्कः।

शक्ते! तुभ्यमिति। तावत्त्वां कान्धारदेशाधिपतिं करोमि इति तद्देशाधिपत्याद् यथारुचि मदीयगोष्ठ्यामागन्तव्यमिति सामोक्तेश्च 'संग्रहः सामदानोक्तिः' इति लक्षणात्संग्रहाख्यसन्धिर्दर्शितो भवति।

इति श्रीमहामहोपाध्यायसर्वतन्त्रस्वतन्त्रविद्यावारिधि-पण्डितमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीटीकायां बन्धुवैरनामको द्वितीयोऽङ्कः।

तृतीयोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(रामगुरुवियोगादत्यन्तदुःखोद्विग्नः पुष्पवाटिकायां मन्त्रिसहितः स्थितः प्रतापश्चिन्तयति)

प्रतापः—मन्त्रिन् ! रामगुरुरत्यन्तमस्माकं शुभचिन्तक आसीत् ।

नये कविर्बुद्धिवरेषु वाक्पति-
विपत्प्रतीकारविधौ सदाशिवः ।
तपःसु नारायणतुल्यतामितः
क्व मे स रामः स्थितिपालनक्षमः ॥ १ ॥

(ततस्तत्रैव प्रविशन्ति सालुम्बरावतकृष्णादयः । 'जय एकलिङ्गेश्वरस्य' इत्युक्त्वा सर्वे भूमौ एव उपविशन्ति ।)

अथ रामगुरोर्मरणानन्तरं तद्वियोगादत्यन्तदुःखेनोद्विग्नः प्रतापः पुष्पवाटिकायामुपवने यत्र दुःखदशायां मनः प्रसादार्थं गच्छति तत्र मन्त्रिसहितः, प्रधानमन्त्रिसमन्वितः स्थितः सन् चिन्तयति । गुरुरेव राज्यप्रदाता, अयं देशोपकारार्थं मृत इति किमस्यापकृतये कर्तव्यमिति विचारयति ।

अथ तद्गुणस्मरणद्वारा तमनुचिन्तयति—नये इति । नये–नीतिविषये, कविः–शुक्राचार्यः, शुक्राचार्यस्य नीतिविषये प्रसिद्धिः, बुद्धिवरेषु मध्ये वाक्पतिः, साक्षाद् बृहस्पतिरेवेत्यर्थः, तथा विपदामापत्तीनां प्रतीकारविधौ—तन्निवृत्तितत्परतायां, सदाशिवः–साक्षान्महादेव एव । तपःसु–तपश्चर्यासु नारायणतुल्यतामितः, बदरिकाश्रमे नारायणरूपेण विष्णुना तपोऽकारीति प्रसिद्धम् । पूर्वत्राभेदेन प्रतिपादनम्, इह तु सादृश्येनेति । तत इदं बोध्यते, न तथा तपसि नारायणसदृशो गुरुरस्ति यथाऽन्यकार्येषु । सः स्थितिपालनक्षमः-मर्यादापालनसमर्थः, मे-मम, रामः-रामाख्यो गुरुः क्व । तस्येदानीं नाशान्न जाने स कुत्रास्तीति तत्स्थितेरप्यज्ञानात्तत्प्राप्तेस्सर्वथाऽसंभव एव । तेन निर्वेदातिशयो व्यज्यते ॥ १ ॥

प्रता०—मन्त्रिन् ! गुरोः शुभाध्यवसायकृते इह स्मारकं चत्वरमार-
चय, तत्पुत्रश्च तत्स्थाने विधीयताम् ।

मन्त्री—यथाऽऽज्ञापयति देवः । (इति दौवारिकेण गुरु-
पुत्रमाह्वयति ।)

(ततः प्रविशति दौवारिकेण सह गुरुपुत्रः ।)

(सर्वे प्रणमन्ति ।)

गुरुपुत्रः—विजयन्तां भवन्तः ।
मन्त्री—प्रतापो भवन्त गुरुपदे स्थापयति ।
प्रता०—भो गुरुपुत्र ! राजाज्ञया अद्य प्रभृति गुरोः स्थाने क्रियते ।
गुरुपुत्रः—संपत्तिसंप्राप्तिविधौ सुसाधू
राजत्कलानाथरुचौ रणेषु ।

जय इति । एकलिङ्गेश्वरस्य शिवस्योपासकत्वात्तस्यैव जयं कथयन्ति-
जयः सर्वोत्कृष्टतया स्थितिरस्तु । दुःखातिशयाद् भूमौ एव । चत्वर-
मारचय । एतेन प्रतापस्य कृतज्ञता व्यज्यते ।

रामगुरोः कार्यस्य प्रत्युपकारं तत्पुत्रे दर्शयति—तत्पुत्रश्चेति । तस्य
रामगुरोः पुत्रः सकलकर्मकाण्डादिप्रक्रियाया तस्यैव स्थाने विधीयताम्,
तत्स्थानापन्नतया अयमुपवेश्यताम् । अयं सर्वकार्येषु च आचार्यः स्यात् ।
अयमेव पूजनादिसर्वकार्याणामधिष्ठाता भवतु । तथा देशोन्नत्यै धर्म-
कार्याणि-अनुष्ठानदेवार्चनादीनि, विदध्यात् ।

अथ मन्त्री प्रतापाज्ञां श्रावयितुं गुरुपुत्रमाह्वयति । अन्यत्सुगमम् ।

संपत्तीति क्रियामेकवचनेन, पुंसि एकवचनद्विवचनाभ्यां शब्द-
चित्रतां दर्शयन्नाह—संपत्तीति । संपत्तेः संप्राप्तिविधौ सुसाधुः, राज-
दित्यस्योत्तरत्वात् 'रोरि' इति लोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घे
सिद्ध्यति । द्विवचने पदोर्विशेषणे सुसाधू इति । तथा रणेषु—संग्रामेषु,
राजन्ती-देदीप्यमाना कान्तियुक्तत्वात् कलानाथस्य रुचिरिव रुचिर्यस्याः,
यस्य, ययोर्वा हरेर्मूर्तिः शरीरं, वाग्निचयः-वाचां समूहः, शब्दतोऽर्थतश्च

मूर्तिर्हरेर्वाग्निचय पदौ च
प्रताप ! सौख्यं भवतो विधत्ताम् ॥ २ ॥

(इत्याशिष पुष्पाणि ददाति ।)

सालुम्यः—महाराज ! गुरुपुत्रः पण्डितप्रवर. कविवरश्च ।

प्रता०—अत एव गुरुपदे स्थाप्यते ।

(ततः प्रविशति मानवृत्तपरिज्ञानाय प्रेषितः प्रतापानुचर. ।)

(दूरतः प्रताप विलोक्य ।)

अनुचरः-सिन्दूरारुणनेत्रकान्तिरुचिर प्राभातिकेन्दुद्युति—
देहे किंचिदसौ दधत् शिथिलतां भूमावुपेक्षास्थितः ।
मन्दं मन्दमिव ब्रवीति किमपि प्रम्लानचेतोऽन्तर-
खिन्नः किन्तु निशाप्रजागरवशात्किंवा शुचा सद्गुरो ॥३॥

कलानाथकान्तिसादृश्यमत्रावगन्तव्यम्, पदौ च चरणौ च, हे प्रताप भवत सौख्य—सुखपरंपरा, विधत्ताम् । मूर्तिर्वाग्निचय इत्यनयोराकाङ्क्षायामात्मनेपदे एकवचने विधत्ताम् परस्मैपदे द्विवचने च । अत्र शब्दचित्रत्वेऽपि व्यङ्ग्यत्वमभ्याहृतमिति नावरकाव्यत्वम्, तथा मूर्तिचरणवाचेनिष्वपि समानतया सौख्यविधानसामर्थ्यवर्णनाद्भक्त्यतिशयो व्यज्यते अलङ्कारव्यञ्जयादिवर्णन विस्तारभिया न प्रदर्श्यते । द्वन्द्वसमासे चान्तत्वात् टच् ।

पण्डितप्रवर—पण्डितेषु प्रकृष्टो वर· प्रवरः विशिष्टोऽस्ति । अत एवेति । एतेन स्वस्याचितकारित्व द्योत्यते । मूर्तिचरणवाचे अत्र ।

चवर्गान्तत्वात् टच् समाहार एकवचन च ।

अनुचर खेदजागरणयोः साधारण्यमवलोक्य तर्कयति—सिन्दूरेति । सिन्दूर इव अरुणे—किञ्चिद्रक्ते, ये नेत्रे तयो कान्त्या—सौन्दर्येण रुचिर.—मनोहरः, प्राभातिक·—प्रभातकालिको य इन्दुश्चन्द्रस्तद्वद् द्युतिर्यस्य, किञ्चित् शुक्लता रात्रिजागरणे शोके च भवति, अथ च देहे·शरीरे, किञ्चित् शिथिलतां दधत्, भूमौ उपेक्षया—उपेक्षाबुद्धया,

(इति विचिन्तयन् प्रविशति प्रतापसमीपेऽनुचरः)

अनुचरः—जयतु जयतु महाराजः।

प्रता०—कथय क्वेदानीं मानः ?,

अनु०—दक्षिणदेशं विजित्य अभिमानसमुत्पूरितान्तःकरणो भवन्तं स्वविभवं दर्शयितुमुन्मार्गेणैव उदयपुराभिमुखं प्रचलितः।

प्रता०—सालुम्ब ! एवमागमने कोऽप्यत्र गूढाभिसन्धिः स्यात्।

सालु०—(किंचिद्विमृश्य) मन्ये स्वविभवं भवन्तं दर्शयितुं समायाति। अथवा आत्मवद् भवन्तमपि यवनैः सार्द्धं सम्बन्धयितुमभिकाङ्क्षते।

प्रता०—(वीरासनस्थः सन् खड्गमाकर्षति।) आः ! क एष मयि स्थिते यवनैः सार्द्धं मां सम्बन्धयितुं प्रभवति।

सालु०—एवमेवैतत्, परमयं तस्य गूढाभिसन्धिर्लक्ष्यते।

स्थितः। निशायां विचारपरम्परयाऽतिजागरणेन आलस्यात् शोकाच्चैव भवति। प्रम्लानं चेतोऽन्तरं यस्य सः असौ प्रतापः, मन्दं मन्दम्–अति मन्दं किमपि ब्रवीति इव, किमपि कथयतीव। न खलूपलभ्यते स्पष्टतया किंकथयति। किन्तु निशाप्रजागरवशात् शक्तिसिंहस्य तथाविधां प्रतिज्ञां विधाय गमनात्मनगरस्य अकरणपक्षपातितयाऽवस्थानाद्विचारपरम्परया रात्रावतिजागरणात् खिन्नः। किं वा मद्गुरोः–उचितकारितया निष्पक्षस्य राज्यदापयितुर्गुरोः, शुचा–शोकेन, खिन्नः–दुःखितः। अत्र वर्णितानां धर्माणामुभयसाधारण्येन ऊहापोहौ सन्धिस्त्यज्यते ॥३॥

उन्मार्गेणैवेति। आगमने गतप्रतस्तस्य गमनमार्गो नायं किन्तु स्वमार्गं परित्यज्य अनेन मार्गेणागच्छतीत्यर्थः। यद्वा–आर्यमर्यादां परित्यज्य त्वां यवनैः सम्बन्धयितुमित्यसदभिलाषयाऽऽगच्छतीति स्यात्। अन्यत्सुगमम्।

प्रतापः सालुम्बोक्तं परमार्थतो मन्यमानः खड्गमाकर्षति–आः क

प्रता०—सर्वथा असंग्राह्योऽयम्।
पितुः स्वसुर्दानवशेन लब्धां मानप्रतिष्ठां शतशो धिगस्तु।
म्लेच्छादिसंसर्गिविदुष्टपङ्क्तौ किमार्यजातो नृपतिश्च भुङ्क्ते ॥४॥
रावत० नहि नहि कदाचिदपि कोऽप्यार्यभवस्तत्पङ्क्तौ नैव भोक्ष्यते।
प्रता०—परं मन्ये तेनापमानेन मानो वैरायिष्यते।
सालु—वैरोत्पादने दोषः कस्येत्यपि विचारणीयम्। स्वयमेवासौ मानः कथं नैव विचारयति।
प्रता०—'न बुध्यते इत्यपि बुद्धिसाध्यम्'
यद्यपि मानस्यैव दोष इति सर्वथा युक्तं तथापि नासौ विचारयति।

एवं मयीत्यादि कथयति च। अथ सालुम्बः०'तस्य गूढाभिसन्धिरुच्यते न तु परमार्थत इदमुच्यते' इत्यभिप्रायेण प्रतापं सान्त्वयति।

अथ प्रतापो मानमपाङ्क्तेयं दर्शयति—पितुरिति। पितुः स्वसुर्भगवान्दासस्य भगिन्या दानवशेन लब्धां-प्राप्ता, मानस्य प्रतिष्ठा-मानमहत्त्वं शतशो धिगस्तु। म्लेच्छादीनां संसर्गोऽस्यास्तीति म्लेच्छादिसंसर्गी, तेन विदुष्टायां पङ्क्तौ—यवनसंबन्धिविदूषितपङ्क्तौ आर्यजातः—आर्योत्पन्नः नृपतिः किं भुङ्क्ते। नैवेत्यर्थः॥ ४॥

अथ सालुम्बः वैरोत्पादने मानस्यैव दोषं बोधयन् स्वयमेवेत्यादि कथयति।

अथ प्रतापः सालुम्बोक्तं समर्थयन् कथयति—न बुध्यते इति। "इदं मया न बुध्यते" इति विवेकोऽपि बुद्धिगम्य एव। स चैवंविधः प्रकारहितो यदात्मनः प्रत्यक्षतया स्फुटमपि दोषं न पश्यतीत्यर्थः॥

---

१ भगवान्दासस्य मानसिंहः कृत्रिमः पुत्रः। तद्भगिनी चकबराय दत्ता, मानसिंहभगिनी सेत्यत्र मतभेदः। वस्तुतस्तु दासीपुत्री सेत्यत्र न कस्यापि विप्रतिपत्तिः। एवं च मानसिंहपितुर्दासीपुत्री सा भगवान्दासस्य दासीपुत्री तद् भगिनी वेति काकदन्तपरीक्षावन्निःसारमेवैतदिति।

सालुम्बः—शौर्यमदोन्मत्तो भवन्तं भोजनादिसंबन्धेन संबन्धयितुमेव असौ आगच्छति।

प्रता०—युक्तं संभाव्यते, परंतु—

संबन्धने सकलशास्त्रविरोधचर्चा
त्यागे कृते तु समरः पतितो गले स्यात्।
(अस्तु) मानो विलोकयतु मे समरे कृपाणं
मानं विहाय यदि नैव पलायतेऽसौ॥ ६॥

(इति खड्गं स्पृशति)

सर्वे—वयं सर्वे सन्नद्धाः स्मः। यवनानां कृते आत्मजातिमास्कन्दत्यसौ, किमनेन शोभनं स्यात्, न खलु वयं समराद्बिभीमः।

प्रतापः कथयति युक्तमिति। यत्त्वया संभावितं 'भोजनादिसंबन्धेन सम्बन्धयितुम्-इति तद् युक्तमेव संभावितम्, अहमप्येवमेव संभावयामि। परमत्र किं करणीयं किं वा न करणीयमिति प्रदर्शयति-संबन्धने इति। तेन सह भोजनादिसंबन्धस्वीकारे सकलशास्त्राणां विरोधस्य, चर्चा-विचारणाऽस्ति। सकलशास्त्रेषु तथाभूतस्य भोजनादिसंबन्धे प्रतिषेधात्सकलशास्त्राणां विरोधः प्रसज्यते, स च दुष्परिहरः। अथ शास्त्रमर्यादानुकूल्येन त्यागे सहभोजनादिसंबन्धस्य त्यागे कृते तु, समरः-संग्रामः, गले पतितः स्यात्। अनभिमतोऽपि संग्रामो भविष्यतीति संभावयामि। एवं सति शास्त्रमर्यादात्यागमसहमानः संग्रामं स्वीकरोति-मानो मानसिंहो मे मम समरे कृपाणम् असिम् शूराः कथं युध्यन्ते इत्यादि विलोकयतु। यद्यसौ मानो मानं स्वाभिमानं विहाय नैव पलायते। स्वाभिमानं विहाय पलायने एव मानप्राणरक्षा भविष्यति, अन्यथा संग्रामे मानो मया हत एव भविष्यतीति भावः। एतेन भाविसंग्रामे मानस्य प्रतापसंमुखानागमनं सूचितं भवति।

अथ सर्वे स्वसिद्धान्तं कथयन्ति-'न खलु वयं समराद्बिभीमः' इति। ततोऽभये कारणं प्रदर्शयन्ति क्षत्रियाणामिति। यदि क्षत्रियाणां

क्षत्रियाणां कृते धर्म्यं यदि युद्धमुपागतम्।
अतः परमभीष्टं किं यत्स्यान्मोक्षपदास्पदम्॥ ६॥

मन्त्री—परमसौ अतिथिः, अतो लौकिकव्यवहारेण भोजनादिसत्कारः कर्तव्यः। तदीयगूढाभिसन्धिविज्ञानानन्तरं यद्भविष्यति तद् द्रक्ष्यामः। तदनुचरितं चरिष्यामश्च।

प्रता०—एवमेव भवतु का हानिः।

(ततः प्रविशति दौवारिकः।)

दौवा—जेदु जेदु महाराओ।
जयतु जयतु महाराजः।

प्रता०—किमस्ति वक्तव्यम्?

दौवा०—माणागमणवुत्तंतणिवेअओ एक्को भोदीओ सेणाअरो
मानागमनवृत्तान्तनिवेदक एको भवदीयः सेनाचरः
पुप्फवाडिआओ दुआरि चिट्ठइ।
पुष्पवाटिकाया द्वारि तिष्ठति।

कृते—क्षत्रियसुखप्राप्त्यर्थं धर्म्यं-धर्मादनपेतं धर्मानुगतं शास्त्रमर्यादारक्षणोद्देश्यकमित्यर्थः, युद्धमुपागतं-प्राप्तं, स्यात् अतः परमभीष्टं किमस्ति यन्मोक्षपदास्पदं मोक्षस्थान स्यात्। स्वर्गात्तु क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके विशन्तीति पुन.पुनर्दुःखानि भवन्ति। मोक्षे तु 'न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते' इति श्रुतेः सर्वथा दुःखोच्छेदात्सुखमेव। समरे मृतस्य मोक्षो नियत एव। उक्तं हि "द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राट् यागयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः।" मोक्षस्थानं सूर्यमण्डलादुपर्यवेति॥ ६॥

परमसावित्यादि सर्वं सुगमम्।

कषायतिक्तभोजनानां नीरसत्वान्न तदुपादानं कृतम्। नानाविधैरनेकप्रकारैरुपस्करणैः साधनैः शर्करान्नघृतमरिचादिभिः ये संसाध्यमाना भक्ष्यादयः, तत्र भक्ष्यं घृतादिभ्रष्टं चणकादि'मुद्गद्विदलादि वा, मृदु शुष्कं

प्रता०—प्रवेशय ।

(ततो दौवारिकेण सह प्रविशति सेनाचरः ।)

सेनाचरः—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रता०—कथय क्वेदानीं मान. ।

सेना०—इयाणिं माणसीहो सव्वं पि सेणासंरोहं उदेउरस्स
इदानीं मानसिंहः सर्वमपि सेनासंरोहमुदयपुरस्य
दक्खिणभाअम्मि सण्णिवेसिय कइवएहिं सेणासंभावि-
दक्षिणभागे संनिवेश्य कतिपयैः सेनासम्भावि-
अपुरिसेहिं सुईयपासअराणुअरेहिं चेव सह उदेउरं
तपुरुषैः स्वकीयपार्श्वचरानुचरैरेव सह उदयपुरं
पविसमाणो भोदीयणिवासगिहाहिमुहं आगच्छइ ।
प्रविशन् भवदीयनिवासगृहाभिमुखमागच्छति ।

प्रता०—मन्त्रिन्! त्वं कुमारं पुरस्सरीकृत्य बहुमानपुरस्सरं मानं प्रवेशय । स्नानभोजनादिप्रबन्धं च बहुमूल्यसुशोभनद्रव्यैर्मधुराम्ललवणकटुवादिरसास्वादितैर्नानाविधोपस्करणसंपाद्यमानभक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यचर्व्यादिविविधपदार्थजातैर्विधेहि । सह भोजनाय यथासंभावितं व्याजः प्रदर्शनीयः कुमारोऽपि सहभोजने नैव नियोक्तव्यः । सालुम्ब ! त्वमपि तदातिथ्यसत्कारेऽस्य साहाय्यं कुरु । अहमपि अन्तर्हितो भूत्वा सर्वं विलोकयिष्ये ।

भोजनादिमित्यर्थः । भोज्यं शष्कुल्यादिकम्, लेह्यं श्रीखण्डादिकम्, गुर्जरदेशे प्रसिद्धम् । चोष्यमाम्रादिकम् । चर्व्यं तिलपर्पटकम् । इत्यादिरूपैर्विविधपदार्थजातैः अनेकविधपदार्थभेदैर्भोजनप्रबन्धं विधेहि । यथासंभावितम्-संभावितमनतिक्रम्य । संभावितानुरूपमित्यर्थः ।

काचिद्योगिनीति । अनिर्दिष्टनामा योगिनी । यद्यपि इयं सैव वेश्या परं तु योगमार्गाश्रयणानन्तरमनिर्दिष्टनामत्वात्काचिदित्युक्तम् । अथ

मन्त्री—यथाऽऽज्ञापयति देवः। (इति मन्त्री कुमाराभ्याम् सह निष्क्रान्तः।)

पटोन्नयनम्

(ततः स्नानपूजनादिसकलकर्मनिवृत्तो भोजनाय आसने उपविष्टः मानः प्रतापागमनं प्रतीक्षते।)

(ततः किञ्चिद् दूरतः समुपतिष्ठते वीणां वादयन्ती सतालं गायन्ती लोकान्प्रबोधयन्ती काचिद् योगिनी।)

(तदनन्तरमेव प्रविशति नानाविधद्रव्योपेतं राजभोजनमादाय सूपकारः। सूपकारो मानस्य सम्मुखं भोजनपात्रं स्थापयति।)

(योगिनी गायति।)

त्यज रे मान कपटमदजालम्। (मानपदश्रवणान्मानः समवहितः शृणोति।)

भज शिवकरणमीशपदपङ्कजममरशिरोजयमालम्।
उदितप्रतापतुल्यशुभदर्शनमहिमगिमण्डलशालम्।
सुभसम्पदापरमपदप्रापकमखिललोकपरिपालम्॥

मानमिदं प्रतापपक्षानुगमनायोपदिशन्ती प्रतापस्य प्रभावातिशयं शिवपदसाम्येन व्यञ्जयन्ती गायति।

त्यज रे इति। रे जीव! मानस्य-अहंत्वाभिमानस्य, कपटस्य प्रपञ्चस्य, मदस्य-औद्धत्यस्य गर्वस्य वा, जालं, त्यज-मुञ्च। अथ च-मानेति संबोधनम्, हे मान! कपटमदयोर्जालं प्रपञ्चं त्यज। तत्त्यागानन्तरं कार्यमुपदिशति-शिवकरणं-कल्याणकारकम्, अमराणां-देवानां, शिरोजयमालम्-शिरसि जयमालरूपेण स्थितम्, अथवा-अमरस्य अमरसिंहस्य शिरोजयमालम्, शिरसि जयमालरूपेण स्थितम्। ईशपदपङ्कजं-शम्भुचरणकमलम्, अथवा-ईशस्य ऐश्वर्ययुक्तस्य प्रतापस्य चरणकमलं भज सेवस्वेत्यर्थः।

कथंभूतं चरणकमलमित्याह-उदितेति। उदितो यः प्रतापः सूर्यस्तेन तुल्यम्, ईश्वरतुल्यमित्यर्थः। तथा शुभं-कल्याणकरं दर्शनं यस्य तत्, पुनर्द्वयोः कर्मधारयः। अथवा-उदितो-वर्धमानो यः प्रतापः-प्रतापसिंहस्तेन तुल्यं शुभं दर्शनं यस्य। यथा प्रतापस्य दर्शनं शुभकरं तथैव तस्यापीत्यर्थः।

लसितसुरासुरयक्षनागनरकिन्नररक्षोभालम् ।
भवभयहरणमरुणसमशोभितमघचयतपनकरालम् ॥
प्रतिदिनमगपतितनयावन्दितमाशीविषवाचालम् ।
करुणावरुणालयमहिमण्डितमधरितसरसप्रवालम् ॥

अथवा-उदितं-भाषितं यद् प्रताप इति पदं तत्तुल्यतया शुभं-शुभकरं दर्शनं यस्य । यथा प्रतापनाम शुभकरं तथैव प्रतापदर्शनमपीत्यर्थः । तथा अहीनां सर्पाणां मणिमण्डलेन-मणिसमूहेन शालं शोभमानम् । प्रताप-पक्षे—अहिमणीनाम् उत्तमोत्तममणीनां मण्डलेन शालं शोभमानम् एतेन सर्पमणिसत्त्वात् लोकोत्तरसंपत्तिशालित्वं सूचितं भवति । अथवा अहीनां द्विजिह्वानां भवत्सदृशानामित्यर्थः मणिमण्डलो यत्र एवंभूतो यः अकबरस्तं शालयति पीडयति इति । श्लेषे नेयार्थो न दोषावहः । पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । तथा सुखस्य सम्पदायाः, परमपदस्य-मोक्षस्य, प्रापकम् । अन्यत्र सुखसंप-द्योर्यत्परमपदमुत्कृष्टस्थानं तस्य प्रापकम् । तथा अखिललोकानां-समस्त-चराचरसंसाराणां, परिपालं-रक्षकम्, अन्यत्र समस्तजनानां रक्षकम् । तथा लसितं शोभितं, सुरासुरयक्षनागनरकिन्नररक्षसां भालं मस्तकं येन, सुरादीनां चरणेषु निपतनात्, अन्यत्र-लसितं देदीप्यमानम् तथा सुरासुरयक्षनाग-नरकिन्नररक्षःसु भाभिः अलं शोभमानम्, पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । तथा भवभयहरणं-संसारभयमोचकम् । अन्यत्र भवाः-प्राणिनस्तेभ्यस्तेषां वा यद्भयं तस्य हरणं-हारकम् । 'चलनशब्दार्थादकर्मकाद् युच्' इति युच् । तथा अरुणसमशोभितम्—अरुणसदृशरक्तवर्णम् । उभयत्र समानमेतत् । तथा अघचयस्य-पापसमूहस्य, तपने-संतापने नाशकरणे इत्यर्थः, करालं-भयंकरम्, अन्यत्र-अघचयस्य दुष्टप्राणिसमूहस्य, तपने-संतापने, दुष्टानां निग्रहे इत्यर्थः, करालम् । तथा प्रतिदिनम्, अगपतितनयया-पार्वत्या, वन्दितम् । अन्यत्र-पर्वताधिपतेः । कस्यचिद्राज्ञः सुतया वन्दित, तत्पति-त्वात् । यद्वा अगपतेः तनयैः भिल्लपुत्रकैः आ समन्तात् वन्दितम् । तथा आशीविषैः-सर्पैः, वाचालं-कुत्सितशब्दयुक्तम् । अन्यत्र मा इति निषेधार्थे । मा आशीविषाः-द्विजिह्वाः, पिशुना इत्यर्थः, वाचालाः-कुत्सितभाषिणश्च यत्र तत् । पुनर्द्वयोः कर्मधारयः । करुणावरुणालयं-दयासमुद्रम्, उभयत्र

ब्रह्मादिकसनकादिसकलनृपसेवितमलिकुलकालम्।
परमसुकृतसमुपागतदर्शनममृतसरोवरनालम् ॥ ७ ॥

मानः—(मनसि) किमियं मामधिक्षिपन्ती कथयति जीवं वा ?
(प्रकाशम्) प्रतापमाह्वय। अपरं च भोजनपात्रं सज्जीकृत्यानय।

मन्त्री—(बद्धाञ्जलिः सन्) महाराज ! प्रतापस्य शिरोवेदनाऽस्तीति अन्तःपुरे शेते।

मानः—कुमार ! त्वं गत्वा तं निवेदय। मानो भोजनासनोपविष्टस्त्वामाह्वयति, आगत्य यथारुचि किञ्चिदपि भुङ्क्ताम्।

कुमारः—महाराज ! भवान् भुङ्क्ताम् पूज्यचरणा इदानीं शेरते।

मानः—कुमार ! त्वं गत्वा तमुद्बोध्य समानय।

समानमिदम्। अहिमण्डितं-सर्पैः शोभमानम्, अन्यत्र अहिभिः सर्परूपैः भयंकरैः वीरैर्मण्डितम्। अधरितः-अत्यन्तारुण्येन न्यग्भूतः, सरसप्रवालः-आर्द्रविद्रुमो येन तत्, उभयत्र समानम्। तथा ब्रह्मादिभिः-सनकादिसकलनृपिभिश्च सेवितम्। अन्यत्र-ब्रह्मादिकसनकादिसकलनृपीणां या सेवा, सा संजाता अस्य। तारकादित्वात् इतच्। ब्रह्मादिसेवालग्नमित्यर्थः। ब्रह्मादिसनकादिसकलनृपीणां सेवाकारकम्। तथा अलिकुलेन-भ्रमरसमूहेन, कालं-श्यामवर्णम्। देवैरानीतानां पुष्पाणामतिसौरभेण समागतैरित्यर्थः। अन्यत्र-रलयोः साम्यात्, अरिकुलस्य-शत्रुकुलस्य, कालं-नाशकम्। परमसुकृतेन-अत्यन्तपुण्येन, समुपागतं दर्शनं यस्य तत्, उभयत्र समानम्। अमृतसरोवरस्य-मोक्षरूपसरोवरस्य, नालं-परमप्रवाहस्थानभूतम्। अन्यत्र अमृतम्-अयाचितं यद्वस्तु तस्य परःसरोवरं-निवासस्थानं तस्य नालम्, अयाचितस्यापि दातारम्। अमृतं तदेव सरोवरं तत्र नालमिव नालम्, अमृतं स्यादयाचितम्। अत्र शिवप्रतापयोः शिवचरणधर्माणां साधारण्येन उपमालंकारो व्यज्यते। तेन शिवरूपः प्रताप इति तदाराधनमवश्यं कर्तव्यमिति तस्या अभिप्रायः। अतः कपटं विहाय एतत्पदमाश्रयस्वेति तदुपदेशः ॥७॥

कुमारः—नाहमुद्बोधयितुं शक्नोमि ।

मानः—कुमार ! त्वं ममानुरोधाद् गत्वा तमुद्बोध्य कथय । नासौ मानस्त्वया विना मोक्ष्यते ।

कुमा०—यथाऽऽज्ञापयति भवांस्तथा करोमि, परं पूज्यचरणानां शिरोवेदनाऽस्तीति न ते आगमिष्यन्ति ।

मानः—त्वं गच्छ कथय मत्सन्देशम् । यथारुचि किञ्चिदपि भुङ्क्ताम् नाहमन्यथा भोक्ष्ये ।

कुमा०—यथा आज्ञापयति भवान् । (इति निष्क्रान्तः)

मानः—(मनसि) प्रतापस्य भवेदपि शिरोवेदना परं तु कर्णं-जगन्मल्लादिप्रभृतयो राजवंशीयाः केचिदपि नैव विलोक्यन्ते । किंच सत्यामपि शिरोवेदनायामागत्य सहोपविश्य किंचिद्भोजने का क्षतिः, नूनमयं मां तिरस्कुरुते । (प्रकाशम् ।)

मन्त्रिन् ! कर्णप्रभृतयोऽपि नैव विलोक्यन्ते ।

मन्त्री—महाराज ! ते सर्वेऽप्यद्य आखेटार्थं गताः ।

मानः—किं मदागमनकारणादेव सर्वेऽपि आखेटार्थं गताः, किं वा व्याजोऽयम् । (अत्रान्तरे मानसिंहपार्श्वचरः कश्चिद्गुप्तः मानस्य कर्णे एवमेवेति कथयति ।)

सालुम्बः—(अन्यार्थमवलम्ब्य किंचित्क्रुद्धः सन्) किं नाम एवमेव भवता मदेन आगमनं साधारणतया वेति भवन्त एव

मदागमनेनेति । मम आगमनं-मदागमनम् तस्य कारणादिति मानस्याभिप्रायः । मदेन-अभिमानेन, आगमनमित्याभित्य सालुम्बः कथयति । प्रतापादिरक्षातिरहित एकाकी मानो भोजने अनभिरुचिं प्रदर्शयन् कथयति-शीतमिति । शीतं-वा तद्दोषयुक्तम्, नीरसं-मधुरादिरसरहितम्, किं बहुना विरसमपि भवेत्. विरुद्धरसयुक्तमपि स्यात्, तथा सैकतं-सिकतामयम्, अत्यन्तवालुकोपेतम्, अथवा-अरुच्यम्-अरुचिकरं मनःप्रतिकूलम्, अक्तं-घृतादिरहितम्, अथवा-अदर्शकम् अपूर्णमन्नमित्यर्थः।

जानन्ताम्। वयं तु सौहार्देन भवतामागमनमित्येव जानीमहे ।

मन्त्री—(मानसिंहमुद्दिश्य) महाराज ! भोजनं करोतु भवान्, शीतीभवत्येतत् ।

मानः—शीतं वा नीरसं वा विरसमपि भवेत्सैकतं वाऽप्यहृद्यं
रूक्षं वाप्यर्द्धपक्वं लवणविरहितं दुष्कषायप्रयुक्तम् ।
इष्टस्वज्ञातिमध्ये चणककृतमपि स्वाद्यमानं सगोत्रैः
सार्धं तद् भोज्यसौख्यं भवति तदपरं नीचवृत्त्याऽस्मपूर्तिः॥८॥

मन्त्रिन् ! कथं कुमारोऽपि नायातः ।

मन्त्री—महाराज ! भवान् भुङ्क्ताम् । स चाप्यागमिष्यति । कदाचित्पितुः परिचर्यावशाच्चिरयते ।

(एकाकी भोक्तुमनिच्छन्स्वापमानं मन्यमानो मनसि मानश्चिन्तयति ।)

मानः—शाकं नापि बुभुक्षतेऽत्र कुलजश्चैकोऽपि साकं मया,
धिग्मे जीवनमेवमप्यभिमतं संबन्धसत्त्वं च धिक् ।

लवणविरहितम् । तथा दुष्कषायप्रयुक्त-दुष्कषायरसोपेतं चणककृतमपि तद् भोजनम्, इष्टा अभिमता या स्वज्ञातिस्तस्या मध्ये सगोत्रैः—स्वबान्धवादिभिः सार्धं स्वाद्यमानं, शीतादिदुष्टरसयुक्तत्वेऽपि मध्ये २ रहास्यादिना किंचित्किञ्चिद् भुज्यमानं भोज्यसौख्यं भवति, तदपरं बान्धवादितिरस्कृतेनैकाकिना भुज्यमानं नीचवृत्त्याऽऽत्मपूर्तिः, नीचप्रकारेण जीवनोपायः । एतेन न मे अन्नेन विना इदानीं प्राणान्तकष्टम् । अत इदं भोजनमहं भवतामनागमने सति त्यक्ष्यामीति सूच्यते ॥८॥

'किं चिन्तयतीति प्रदर्शयति—शाकमिति । अत्र एकोऽपि, कुलजः-कुलीनः, मया साकं शाकमपि न बुभुक्षते-शाकमपि भोक्तुं नेच्छति, अन्नभोजनादेर्वार्ता तु दूरे एव । एवमपमाने सति मे जीवनं धिक्, किमनेन जीवनेन । अभिमतमपि सम्बन्धसत्त्वं च धिक् । शिशोदियावंशीया मे बान्धवाः सम्बन्धिनो वा इति धिक्, न मे बान्धवा नापि संबन्धिन इत्यर्थः। अहं तु, अहंमान एव जीवातुर्जीवितकालो यस्य स तथा । 'आयुर्जीवि-

मानोऽहं त्वपमानभाजनमितोऽहंमानजीवातुकः,
स्वल्पैरेव दिनैः फलं फलयिता तापं प्रतापे स्वयम् ॥९॥

(ततः प्रविशति कुमारः)

कुमारः—महाराज ! तातस्तीव्रशिरोवेदनया नैवागन्तुं शक्नोति । भवान् भुङ्क्ताम् ।

(मानो भोजनपात्रात्पञ्चपौदनतण्डुलानादाय उत्तरीये बध्वा चोत्थितः ।)

मानः—प्रकाशम् । साटोपं च ।

जानाम्यस्य शिरोगदं कपटिनो मद्दण्डसंघुट्टना-
त्सोऽस्मद्वीरगणप्रभूतविशिखैर्द्वित्रैर्दिनैः सेत्स्यति ।
तीक्ष्णोदग्रकृपाणकृत्तपृतनास्तीर्णक्ष्मादारुणं
दृष्ट्वा स्वं विपयं स्वयं प्रशमितः शीघ्र्यो गदो मूलतः ॥१०॥

तकालो ना जीवातुर्जीवनौषधम्' इत्यमरः । मानः—माननामा, एतेन स्वस्य गर्वातिशयो बोध्यते । यद्वा-मानोऽभिमानस्तत्स्वरूपः अपमानभाजनम्—अपगतं यद् मानं मानेति पदं तस्य भाजनम्, इतः-प्राप्तः । एतेन मानस्य नाशान्मम नामोच्छेद एव जातः । अथ वा मानः अहमपमानं प्राप्तस्तेन स्वल्पैः-कतिपयैरेव दिनैः, स्वयमहं प्रतापे तापम् अस्य कर्मणः पश्चात्तापरूपं संतापं फलं, फलयिता-फलयिष्यामि । अस्य कर्मणः फलमहं नेष्यामीत्यर्थः ॥ ९ ॥

पञ्चपौदनतण्डुलानिति । भोजनस्यानादरो मा भूदिति गृह्णाति । अथवा एतत्कृते एवाहमपमानित इति प्रतापपराजयानन्तरं ॥ वर्शयितुमुत्तरीये बध्नाति ।

स्वापमानमवगच्छन् कथयति—जानामीति । कपटिनः-भोजनकरणे कैतवं प्रदर्शयतः, अस्य-प्रतापस्य, शिरोऽगदं-शिरसोऽगदम्-औषधं, जानामि-अवगच्छामि । सः-अगदः, मम दण्डो-मद्दण्डः, तस्य तेन वा, यत्संघुट्टनं तस्मात्, अस्मद्वीरगणस्य प्रभूतैः-बहुतरैः, विशिखैः—बाणैः, द्वित्रैः दिनैः, सेत्स्यति-निष्पन्नो भविष्यति । अथ तीक्ष्णो-निशातः उदग्रः —उद्धतः यः कृपाणस्तेन कृत्ता-छिन्ना या पृतना-सेना, तया आस्तीर्णा-

(पुनः रुष्टः सन्)

सिंहः केसरलुञ्चनेन शयितः संबोध्य दुष्कोधितो
हस्तैः फुंकृतिघोरविस्तृतफणः कृष्णाहिरुद्बोधितः ।
प्रोद्यत्कीलकदम्बभीषणवपुर्वह्निः समालिङ्गितो
यन्मेऽकार्ष्ट तिरस्क्रियामसिपतेर्भूपालचूडामणेः ॥११॥

(पुनः सरोषं सालुम्बादिसमक्षं प्रतापादीन् लघीकृत्य प्रतिजानीते ।)

तिष्ठेन्मिथ्या शिरोऽर्तिर्व्रजति वसुमतीस्वामिसंस्तूयमानो
मानो मानप्रदाता प्रधनरिपुगणस्तूयमानासिधारः ।

आच्छादिता, या क्षमा-पृथिवी, तया, दारुण-भयंकरं, स्वं विषयं-स्वकीयं देशं दृष्ट्वा स्वयं शीर्ष्णो गदः मूलतः प्रशमिता । मूलतः शीर्ष्णो गदस्योच्छेदान्न पुनस्तथाभूतो गदो भविष्यतीत्यर्थः ॥ १० ॥ -

रुष्टः सन् पुनः कथयति—सिंह इति । शयितः-सुप्तः, सिंहः, संबोध्य केसरलुञ्चनेन-सटाकर्षणेन, दुष्कोधितः, एव फुंकृत्या-फुंकारेण, घोरा-भयंकरी, विस्तृता फणा यस्य सः, एवंविधः कृष्णाहिः कृष्णसर्पः, हस्तैः उद्बोधितः, तथा प्रोद्यन्नूर्ध्वं गच्छन् यः कीलकदम्बो-ज्वालसमूहः, 'वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीलौ अर्चिः' इत्यमरः । तेन भीषणा वपुः स्वरूपं यस्य सः तथाभूतो वह्निः समालिङ्गितः । इदं तत्कृतम् । यद् भूपालाना-राज्ञा चूडामणेः-शिरोरत्नभूतस्य, राज्ञा मध्ये सर्वश्रेष्ठस्य, असिपतेः-कृपाणस्वामिनः, मत्समक्षं न कोऽपि कृपाणं धर्तुं प्रभवति । एवंविधस्य मे-मम, यूयं तिरस्क्रियां तिरस्कारमकार्ष्ट । एतेन सिंहादीनामिव अहमपि शीघ्रमेव युष्माकं हननं करिष्यामीति व्यज्यते ॥ ११ ॥

अथ प्रतापादीन् लघीकृत्य प्रतिजानीते । तिष्ठेदिति । मिथ्या-कृत्रिमा, शिरोऽर्तिः-शिरोवेदना, तिष्ठेत्-आस्ताम् । वसुमतीस्वामिभिः-भूपतिभिः, संस्तूयमानः, मानप्रदाता-शत्रूणां मानमर्दकः । दो अवखण्डने पदात् दाने मित्राणां मानवर्धकः, प्रधने-संग्रामे, रिपुगणैः स्तूयमाना असिधारा यस्य सः । यस्य खड्गधारां शत्रवोऽपि स्तुवन्ति, स मानो मानसिंहो व्रजति । इदमनर्थंकरं कार्यं संपद्यते । अथ चञ्चद्दोर्दण्डेन-चपलभुजदण्डेन, चन्द्री-

चञ्चद्दोर्दण्डबन्दीकृतनिखिलजगद्भूमिपालासिहारी
मेवाडं ध्वंसयित्वा सकलमपि कुलं यावनं वो विधास्ये ॥१२॥

सालुम्बः—(सरोषम्) सन्निपातरोगिणः किं किं न जल्पन्ति । याहि याहि यत्ते शक्यं तदाचर । स्वसामर्थ्यं नावलोपयेः ।

भर्तारमादाय पितृष्वसुस्त्वं संग्रामभूमिं समुपाश्रयेथाः ।
तन्नाशतो वैरविधिः समाप्तो भवेत्सुखी स्यात्सकलोऽपि लोकः ॥१३॥

(मानः अश्वपृष्ठमिव स्वाशिबिरं निर्गतः । मन्त्री तत्रैवास्थात् ।)

प्रतापः—रावतकृष्ण ! ज्ञायते मानोऽपमानं मन्यमानोऽभुक्त एव निर्गतः ।

रावतः—अहमप्येवमेव संभावयामि ।

प्रता०—पश्य, कुमारसहितः सालुम्ब इत एवाभिगच्छति । ततः सर्वमवगतं भविष्यति ।

कृता ये निखिला जगद्भूमिपालास्तेषाम् असिहारी—तान्विजित्य तेषाम् सिहर्ता, अहं मेवाडं ध्वंसयित्वा—नाशयित्वा, सकलमपि—समस्तमपि, वः—युष्माकं, कुलं यावनं—यवनस्येदं यावनं यवन-संबन्धि यवनमेवेत्यर्थः । विधास्ये—करिष्यामि । यत्तद्वर्गैर्वा यूयं मां तिरस्कुरुध्वे अहं युष्मान् तद्रूपमेव विधास्यामीति स्वशौर्यातिशयो व्यज्यते ॥ १२ ॥

सालुम्बः सक्रोधं तिरस्कुर्वन् कथयति—याहि याहीत्यादि । अथ यवनेन सार्धं पितृभगिन्याः सम्बन्धस्मारणेन अनादरातिशयं व्यञ्जयन् कथयति—भर्तारमिति । त्वं पितृष्वसुः—पितृभगिन्याः, भर्तारमकबरमादाय-अनुनयादिना आनीय, संग्रामभूमिं समुपाश्रयेथाः—आगच्छेः । तन्नाशतो वैरविधिः समाप्तो भवेत् । तदभावाद् युष्माभिः सहापि नास्माकं वैरं भविष्यति । एवं सति तन्नाशात्सकलोऽपि लोकः सुखी स्यात् । यवनराज्यस्याभावादनर्थोच्छेदेन सर्वोऽपि लोकः सुखी स्यात् । एतेन आर्यपतेः प्रतापस्य राज्यं सौख्यजनकमिति व्यज्यते ॥ १३ ॥

प्रतापो मानग्रहणाभिया पलाय्यमानं सैन्यं प्रदर्शयति—मान इति । मानः अभिमानं-गर्वं, हित्वा इहात्यन्तानादरेण गर्वनाशात् गर्वमिहैव मुक्त्वा सर्व-

(ततः प्रविशतः कुमारसालुम्बौ)

प्रता०—सालुम्ब! किमसौ मानोऽमुक्त्वैव गतः?,

सालु०—आम्।

प्रता०—किमसावब्रवीत्?,

सालु०—सन्निपातरोगिणः किं किं न जल्पन्ति।

प्रता०—तथापि किमसावब्रवीत्?,

सालु०—पञ्चपतत्कुलानुत्तरीये बध्वा "मेवाडं ध्वंसयित्वा सकलमपि कुलं यावनं वो विधास्ये' इत्युक्तवान्।

रावतः—(सक्रोधम्) मेवाडध्वंसकं मन्यमानः कथमसौ न गृहीतः।

सालु०—अतिथिरिति कृत्वा विमुक्तोऽसौ।

प्रता०—त्वया पुनः किमुक्तम्?,

सालु०—मया च "स्वकीयपितृष्वसुर्भर्तारमपि सार्धमानयेः" इत्युक्तम्।

रावतः—साधूक्तम्, साधु सालुम्ब! साधु। वीरोचितमेवोक्तम्।

प्रता०—पुनः पुनः।

सालु०—पुनरसौ त्वरितमेव स्वशिविरं निर्गतः।

प्रता०—पश्य, पश्य, एतत्सैन्यं द्रुततरं प्रयाति।

मानो हित्वाऽभिमानं व्रजति लघुतरं सर्वसैन्याग्रभागे
हस्त्यश्वं पत्तियुक्तं निखिलमपि बलं क्षोभमाशं प्रयाति।
मन्ये मानापमानात्कुपितमिव चलद् धूलिभिर्धूसराङ्गं
सीमानं लङ्घितुं द्राक् सलिलमिव महायत्नमेतद्विधत्ते॥१४॥

सैन्याग्रभागे लघुतरं पलायमानो व्रजति। हस्त्यश्वमिति। सेनाङ्गत्वात् 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' इत्येकवद्भावः। पत्तियुक्तं हस्त्यश्वं निखिलमपि—समस्तमपि, बलं-सैन्यं, क्षोभमाशं-आशुयुक्तं सत्प्रयाति। अहमिदं मन्ये। धूलिभिः-रजोभिः, धूसराणि-ईषत्पाण्डूनि, अङ्गानि यस्य तथा मानापमानात्कुपितमिव चलत् एतत्सैन्यं सलिलमिव—जलप्रवाह इव द्राक्-शीघ्रं सीमानं लङ्घितुं महायत्नं विधत्ते। यथा जलप्रवाहः स्थानसंकीर्णतया

सालु०—मन्ये अपमानात्कुपितो मानो वैरायिष्यते ॥
प्रता०—अस्त्वेतत्, इदं तु पूर्वमेव निश्चितमासीत्, यन्मानोऽपमानं मन्यमानो रुष्टो भविष्यति। उदूखले शिरोदाने मुसलात्का भीतिः। युद्धं तु निश्चितमेव।

ताडिताशीविषसमो मानो वैरं चरिष्यति।
गत्वा सैन्यं दृढीकृत्य क्षिप्रमेवागमिष्यति ॥१५॥

परमिदानीं तज्जये प्रकारो विचारणीयः।
रावतः—इदानीमेव सैन्यं सज्जीकृत्य आक्रमितव्यम्।
प्रता०—स चेदानीमतिथिः, तावत्स्वसीम्नि च गमिष्यति। अथापि एतद्दिनेव द्रुततरं तत्सैन्यं प्रयाति, कथमसौ आक्रम्य ग्रहीतुं शक्यो भविष्यति। सर्वान्सामन्तानाहूय परिषदि परामर्शः कर्तव्यः। तावत् इदं भवेत्।

अस्यामुपत्यकायां तु न कश्चिच्चारयेत्पशून्।
न गच्छेदिति राजाज्ञा तद्विरोधे वधो भवेत् ॥१६॥

मन्त्रिन् इमां ममाज्ञामुद्घोषय। स बहिर्निर्गत्य डिण्डिमया तदाज्ञामुद्घोष्य पुनरागच्छति।

सालुम्ब! त्वमपि गच्छ, मन्त्रिन् सायं परिषदि सर्वानपि सामन्तानाह्वयतु।

इतस्ततोऽपि गच्छति एवमेव मानसैन्यमपयेनापि गच्छति। एतेन सैन्ये भयातिशयो चोत्यते ॥ १४ ॥

युद्धस्यावश्यंभावितां प्रदर्शयति-ताडितेति। ताडितो य आशीविषः-विषधरसर्पः, तेन समो मानो वैरं-विद्वेषं चरिष्यति। विषधरसर्पस्य स्वभाव एवायं यत्ताडितः सन् प्रत्यपकारमवश्यमेव करोति। सर्पसाम्येन अवश्यमेव युद्धं भविष्यतीति निश्चीयते। अथ मानस्योद्योगं दर्शयति। मानः गत्वा-इह स्थानात् गत्वा, सैन्यं दृढीकृत्य-सुसज्जितं विधाय, क्षिप्रमेव आगमिष्यति-आयास्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

मन्त्री—यदाज्ञापयति भवान्। (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति श्री महामहोपाध्याय-मथुराप्रसाददीक्षितकृते वीर-प्रतापनाटके तृतीयोऽङ्कः।

पटोन्नयनम्

शुद्धविष्कम्भः

(ततः प्रविशति एकतो जयार्थं शिवमाराद्धुं गच्छन् गुरु-पुत्रः, अपरतश्च इन्दौरनरेशः)

इन्दौ०—(दृष्ट्वा प्रणम्य च) गुरो! जयतु जयतु एकलिङ्गेश्वरः।

गुरुः—आः इन्दौरनरेशः। शुभं भवतु। कं जेतुं प्रचलितोऽसि

इन्दौ०—मानसिंहः अकबरात्सैन्यमादाय योद्धुं समेष्यतीति तज्ज-यार्थं परिषत् क्रियते तत्रैव गच्छामि।

गुरुः—मानसिंहो मूर्खो यदधेयवनः सन् आर्य्यान् कुलीनानपि तेन सह सम्बन्धयति।

इन्दौ०—अथ किम्। अत एव तत्परित्यागः कृत इत्यहं साधु मन्ये। परं स्वयं प्रतापेन उपत्यका कुतः शून्येव कारिता।

गुरुः—इदन्तु स्वल्पमेव दृश्यते, द्वित्रैरेव दिवसैर्वापीकूपतडागा-दिकं कन्दमूललतावृक्षसस्यादिकं च समूलमेव नाशि-तानि द्रक्ष्यसि।

इन्दौ०—कुत एवं विधीयते?

गुरुः—अस्त्यत्र गूढाभिसन्धिः। बुभुक्षापिपासाभ्यां तान् हतोत्सा-हान् विधायाक्रम्य विजेष्यामहे।

इन्दौ०—साधु साधु। अकबरः प्रतापाय अत्यधिकमीर्ष्यते।

गुरुः—(विहस्य) प्रतापदर्शकोऽपि प्रतापवशीभूत इव भवति।

इन्दौ०—अथ किम्। कुतश्चैतदुच्यते?

गुरुः—श्रूयते कश्चिद् भट्टः अकबरपरिषदि गत्वा तं तया तिर-स्कृतवान् येन स मृतप्राय एव संजातः।

इन्दौ०—कथम्?

गुरुः—कश्चिद् भट्टः अकबरपरिषदि उपेत्य स्वशिरसि स्थितं प्रतापदत्तम् उष्णीषमुत्तार्य आदावभ्यर्च्येत्यवदत्। तेन पृष्टः कथमिममुत्तार्य्य वन्दसे ? ततस्तेनोक्तम् । प्रतापस्यायमुष्णीषो मच्छिरसि। स अनार्यं न वन्दते इत्युक्त्वा प्रचलितः। ततः सर्वे जहसुः, इति भट्टतिरस्कृतो मृत इव अकबरः सञ्जातः।

इन्दौ०—(दीर्घं ह ह ह इति जहास) आगतं परिषदः स्थानम् अहमेव गच्छामि।

[इति विष्कम्भः]

पटोन्नयनम्

(सर्षंउद्वितः प्रतापः परामृशति ।)

प्रता०—कथमसावकबरो विजेतव्यः।

कर्णः—वयं सहस्रयोधिन आगतांस्तान् विजेष्यामहे।

चूडावत्—नहि सर्वे भवादृशाः, असंख्येयसैन्यश्च शत्रुः, तत्रापि सहस्रयोधिनो बहवो युद्धविशारदाश्च सन्ति।

रायतकृष्णः—तत्सैन्यागमने सति अस्माभिः पश्चादाक्रमो विधेयः।

सालुम्बः—नैतत्संभाव्यते, अविच्छिन्नपङ्क्तिकास्ते आक्रमिष्यन्ति

भिल्लाधिपतिः—रत्तिम्मि सुअप्पेहिं सेणिएहिं सिबिरम्मि अक्कमिय सव्वे णिहंतव्वा।

रात्रौ स्वल्पैः सैनिकैः शिबिरे आक्रम्य सर्वे निहन्तव्याः।

इन्दौरनरेशः—एवं सति नास्माकं शौर्यं देवा विलोकिष्यन्ते।

चूडा०—एकदा एवं भवेदपि,न पुनः २। सावधानास्ते भविष्यन्ति।

अथ प्रतापस्तत्प्रकारं प्रदर्शयति–वन्ध्या इति । वन्ध्याः—येषु कदाचिदपि फलानि न प्रादुर्भवन्ति, अवन्ध्याः–फलदातारः। कश्चिदपि फलिनः अस्मिन्समये फलयुक्ता अपि क्षुद्राः–लघुकायाः, दीर्घाः–महोन्नता विटपिगणाः–वृक्षसमूहाः.जायमाना भवेयुः, समस्तास्ते मूलतः शोधनीयाः नाशयन्तु। सस्यं गोधूमाद्यन्नं,मूलादि यस्य पत्रं मूलञ्चोभयमपि खाद्यते,

सालु०—एवं कृते शत्रोर्हानिरधिका भविष्यति। परमेवं विधाने अस्माकं जयो नैव भविष्यति। अनन्तरं ते आक्रम्य विजेष्यन्ते।

प्रता०—मम त्वेवं प्रतिभाति। शत्रुसैनिकानद्रिमध्यगान्विधाय आक्रमितव्यम्।

सर्वे युक्तम्! परं तु केन प्रकारेण?

प्रता०—सर्वाऽप्युपत्यका अन्नजलफलादिभिः शून्या विधीयतां विहिता च तथाविधा बहुतरा।

तत्प्रकारश्चायम्—

वन्ध्या वा सन्त्ववन्ध्याः क्वचिदपि फलिनो छायमानाः समस्ताः
क्षुद्रा दीर्घा भवेयुः खलु विटपिगणा मूलतः शोधनीयाः।
सस्यं मूलादिकन्दं मधुकमपि लता यत्र कुत्रापि वा स्यु-
स्तत्सर्वं नाशनीयं नहि भवतु यतो भक्ष्यलाभो रिपूणाम्॥ १॥

कूपा वाप्यः सरांसि स्वविषयचलिते सत्पथे वाऽपथे वा
यावन्त्येतानि सन्तु क्वचिदपि च भवेद् वारि वा पल्वलं वा।
तत्सर्वं नाशयित्वा मरुधरसदृशः सर्वतः स्वो विधेयो
देशोऽस्माभिर्महीधाद् रिपुहननगतिः पूर्णतश्चापि कार्या॥ २॥

कन्दं शूरणादिकम्, मधुकमपि लता वा यत्र कुत्रापि स्युः तत्सर्वमपि नाशनीयम्। समुदायविवक्षया चैकवचनम्। एवं कृते सति फलमाह-यतः रिपूणां भक्ष्यलाभो नहि भवतु। भक्ष्याप्राप्तौ स्वयमेव मृता भविष्यन्ति पलायिष्यन्ते वा॥१॥

एवं भक्ष्यालाभं प्रदर्श्य जलालाभप्रकारं दर्शयति-कूपा इति। स्वस्य विषयो-देशः, 'नीवृज्जनपदो देशविषयौ' इत्यमरः। तत्र चलिते सत्पथे 'स्वतिभ्यामेव' इति नियमात् 'न पूजनात्' इति समासान्तप्रत्ययस्य न निषेधः, अपथे-मार्गाद् बहिर्भूते स्थाने, कूपा वाप्यः सरांसि, यावन्ति-यावत्परिमाणानि, एतानि क्वचिद् सन्तु, वारि प्रसृतं जलं पल्वलम् अल्पजला-

अन्नपानाद्यसंप्राप्तेर्न मां ज्ञास्यन्ति दुर्जनाः ।
आक्रम्य युगपत्सर्वान् हनिष्यामोऽद्रिमध्यगान् ॥ ३ ॥

सर्वे—साधु साधु शोभनोऽयं प्रकारः ।

(उत्थाय सर्वे स्वस्थानं गच्छन्ति)

(अत्रान्तरे राजपुरुषौ हस्तैर्बध्वा द्वौ पुरुषौ नयतः ।)

राजपु०—राअएणाओ पावइ अवहेलणफलं सुयं पुरिसो ।
राजाज्ञायाः प्राप्नोति अवहेलनफलं स्वयं पुरुषः ।
पाणदंडो ऽस्स विहिओ पसुचारणकए चेव ॥ ४ ॥
प्राणदण्डोऽस्य विहितः पशुचारणकृते एव ॥ ४ ॥

शयस्थानं वा क्वचिद् भवेत् । तत्सर्वं समुदायविवक्षया चैकवचनम्, नाशयित्वा, अस्माभिः-मया भवद्भिश्च । एतेन युष्माभिरपि स्वस्वस्थाने वृक्षजलादिकं नाशयितव्यमिति सूच्यते । स्वः-स्वकीयो देशः, सर्वतः-पूर्णप्रकारेण, मरुधरसदृशो विधेयः, इत्यनेनेदं सूच्यते, तत्र क्वचित्पीलवादिफलादिप्राप्तावपि अस्मद्देशे सर्वथा फलादेः प्राप्तिर्न भविष्यति । तदनन्तरं महीध्रात्–महीध्रे स्थित्वा पूर्णतश्च रिपुहननगतिरपि कार्या । एवं सति पूर्णतया शत्रुष्वाक्रमणमपि कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ फलसिद्धिं प्रदर्शयति–अन्नेति । दुर्जना अकबरपक्षपातिनो मानप्रभृतयः अन्नपानादीनामसंप्राप्तेः, अन्नजलालाभात् मां न ज्ञास्यन्ति । कुत्र स्थितः प्रतापः, तत्सैनिका वा कुत्र सन्ति, तत्प्रजा वा कुत्रास्तीति तेषां ज्ञानमेव न भविष्यति । वयं युगपत् आक्रम्य अद्रिमध्यगान्–पर्वतमध्यायातान् । एतेन तेषां पलायने मार्गस्याभावो बोध्यते । सर्वान् हनिष्यामः–नाशयिष्यामः । तेषां नाशे सति अस्माकं जयो भविष्यतीत्यर्थः ॥३॥

अन्ये एवं मा कार्षुरिति राजाज्ञाया अवहेलनफलं श्रावयति–राजाज्ञेति । पुरुषः स्वयमेव अन्यैः सह वैराग्यभावेऽपि, राजाज्ञावहेलनफलं प्राप्नोति । तत्र राजाज्ञाया अवहेलने स्वल्पफलेऽपि प्राणदण्डो भवतीति दर्शयति । पशुचारणकृते एव-नैतावता राज्ञो हानिर्विहिता, किन्तु आज्ञाभङ्ग एवेति कृत्वा अस्य वृद्धस्य प्राणदण्डो विहितः । तस्मात् यूयं सर्वथा राजाज्ञां पालयतेति सूचितं भवति ॥ ४ ॥

भिल्लपुत्रः—आ ! दारुण से आणा, पिउणो सूलीदंडो
आः ! दारुणा तस्य आज्ञा । पितुः शूलीदण्डो
विहिओ। कल्ले भइणीभत्तुणो वि सूलीदंडो
विहितः । श्वो भगिनीभर्तुरपि शूलीदण्डो
हविस्सइ।
भविष्यति ।

(अन्तर्गृहादानीय धनुः शरांश्च सज्जीकृत्य प्रतापं हन्तुं प्रतिजानीते ।)

भि० पुत्रः—भइणीए वेहव्वाओ पुव्वं चेव पदावं हणिस्से।
भगिन्या वैधव्यात्पूर्वमेव प्रतापं हनिष्यामि।

भि० भगिनी—भाय ! अम्हाणं सवहो, मा पदावं
भ्रातः ! अस्माकं शपथः, मा प्रताप
हण। सो क्खु अम्हाणं अण्णदाअओ राआ।
जहि। स खलु अस्माकम् अन्नदायको राजा।
सो क्खु ईसरो।
स खलु ईश्वरः।

(इति ब्रुवती गृह्णाति)

भि० पुत्रः—मुंचउ अम्हे, पदावं हणिस्से।
मुञ्चतु अस्मान्, प्रतापं हनिष्यामि।

भि० भगिनी—कम्हा ?
कस्मात् ?

भि० पुत्रः—कहं खु तुए ण सुअं ?, पिया सूली कारिओ,
कथं खलु त्वया न श्रुतम् ? पिता शूली कारितः,
तक्कलेअरं पि ण दावेइ । कल्ले तुह भत्तुणो वि
तत्कलेवरमपि न दापयति। श्वस्तव भर्तुरपि
सूली हविस्सइ।
शूली भविष्यति ।

भि० भगिनी—कम्हा सूली कारिओ ?
कस्मात् शूली कारितः ?

मि० पुत्रः—मह पिया णिज्जणं उवच्चयामग्गं दट्ठूण अणा-
मम पिता निर्जनमुपत्यकामार्गं दृष्ट्वा अजा-
वोओ चारेउं गओ। रण्णो य आणाए अवहेलणकए
वीश्चारयितुं गतः। राज्ञश्च आज्ञाया अवहेलनकृते
पिउणो सूली दंडो कारिओ, कल्ले तुह भत्तुणो
पितुः शूली दण्डः कारितः, श्वस्तव भर्तुः
सूलो दंडो हविस्सइ।
शूलो दण्डो भविष्यति।

मि० भगिनी—एव्वं पि अपरिक्खओ पदावो चिट्ठउ।
एवमपि अपरिक्षतः प्रतापस्तिष्ठतु।

(इति पादयोः पतति स चापधूय निष्क्रान्तः।)

चारणः—न स्वर्णभूषणै राजा राजा भवति शक्तिमान्।
अन्यैरपरिभूताज्ञो राजा लोकैर्निगद्यते॥ ५॥

(इति गायन्निष्क्रान्तश्चारणः।)

(भिल्लभगिनी उत्थाय स्थिता सती चिन्तयति।)

मि० भगिनी—हा पदावो अपरिक्खयंगो होउ। हे अग्गिदेव!
हा प्रतापोऽपरिक्षताङ्गो भवतु। हे अग्निदेव!
पाणणाहाहिणायअ सअललोअसंथूयमाण-
प्राणनाथाधिनायक सकललोकसंस्तूयमान-

"राज्ञो हानिर्नैव जाता, इत्यपराधो नैवास्तीति वधदण्डोऽनुचित इति प्रजायां प्रवादो न प्रसरेदिति" चारणो गायन् राज्ञ औचित्यकारितां श्रावयति—न स्वर्णेति। शक्तिमान्—शक्तिसंपन्नो राजा, स्वर्णभूषणैः राजा न भवति-न खलु बहुतरस्वर्णादिभिः स राजा भवति किं तु अन्यैरपरिभूता सर्वथा स्वीकृता आज्ञा यस्य सः, एवंभूत एव पुरुषो लोकैः राजा निगद्यते। एवं च तदाज्ञाया अवहेलने तस्य राजत्वमेवोच्छिद्यत इति तदुच्छेदकस्य प्राणदण्ड उचित एव जातः॥ ५॥

कित्तिमंडलं सुजसत्थोमधवलियदिग्विभाग्गं
कीर्तिमण्डलं स्वयशःस्तोमधवलितदिग्विभागं
सव्वजणमणोरंजणकरणपक्खाअविहवं सूरिय-
सर्वजनमनोरञ्जनकरणप्रख्यातविभवं सूर्य-
पदावाओ वि अहियअरं सुसोहणं अम्हाणं
प्रतापादपि अधिकतरं सुशोभनम् अस्माकं
पदावं अपरिक्खयंगं करेउ। हा! भाया गओ
प्रतापम् अपरिक्षताङ्गं करोतु। हा! भ्राता गतः,
पदावं परिक्खयंगं करिस्सइ।
प्रतापं परिक्षताङ्गं करिष्यति।

(इति रुदती सती स्थिता सर्वतोऽवलोकते)

(लघुभ्राता विह्वला भगिनीं विलोकयति)

ल० भ्रा०—भइणि! कहं वीहला?
भगिनि! कथं विह्वला?

(भगिनी भ्रातुः स्वरसंयोगात्किञ्चिदुच्छ्वस्य)

भि० भगि०—हा कुलदेवआओ! पदावं अपरिक्खयंगं करेह।
हा कुलदेवताः! प्रतापमपरिक्षताङ्गं कुरुत।

ल० भ्रा०—भइणि! पदावो अपरिक्खयंगो चेव चिट्ठइ।
भगिनि! प्रतापः अपरिक्षताङ्ग एव तिष्ठति।

(भि० भगिनी पुनः प्रबुद्धा सती लघुभ्रातरं विलोकयति)

भि० भगिनी—भाय! अज्ज तुह भाया पदावं मारेउं पडिसुणिय
भ्रातः! अद्य तव भ्राता प्रतापं मारयितुं प्रतिश्रुत्य
रायट्ठाणं गओ। पदावं रक्खेह, सो क्खु ईसरो।
राजस्थानं गतः। प्रतापं रक्षयत, स खलु ईश्वरः।

भ्रात इति। 'अत्र अद्य तव भ्राता' इत्यारभ्य 'अपरिक्षताङ्गो भवतु' इति पर्यन्तेषु प्रत्येकपदेषु विशिष्टस्वारस्यमस्ति, विस्तरभिया न प्रदर्श्यते, विद्वद्भिः स्वयमूह्यम्।

वेइयमरिआदारक्खणपरो विविहवजणच्चाय-
वैदिकमर्यादारक्षणपरो विविधव्यसनत्याग-
गहिअमुणिव्वओ अप्पकुलपरंपरागयसउतसमा-
गृहीतमुनिव्रतः आत्मकुलपरंपरागतश्रौतस्मा-
त्तकम्मकरणनिउणो णिअपयापालणविमुत्त-
र्तकर्मकरणनिपुणो निजप्रजापालनविमुक्त-
सव्वसुहो अम्हाणं राया पदावो अपरिक्खयणो
सर्वसुखः, अस्माकं राजा प्रतापः अपरिक्षताङ्गो
होउ।
भवतु।

ल० भ्रा० भिल्लः—कम्हा तेण पडिण्णायं ?
कस्मात् तेन प्रतिज्ञातम् ?

भि० भगिनी—तुह पिउणो रएणा सूली दंडो विहिओ।
तव पितुः राज्ञा शूली दण्डो विहितः।

ल० भ्रा० भिल्लः—सुयं चेव। मह पिआ तुह भत्ता अ राआणं
श्रुतमेव। मम पिता तव भर्ता च राज्ञाम्
आणां ओहिलिय अयावीओ चारेउं गया।
आज्ञामवहेल्य अजावीश्चारयितुं गतौ।
तेण तेसिं पाणदण्डो विहिओ। णहि क्खु
तेन तयोः प्राणदण्डो विहितः। नहि खलु
रएणा अप्पणो कए दारुणा आणा किआ।
राज्ञा आत्मनः कृते दारुणा आज्ञा कृता।
किं तु पयाअणरक्खणट्ठं चेव। जओ
किन्तु प्रजाजनरक्षणार्थमेव। यतः
सुण्णट्ठाणदंसणेण रिऊणं ण्णाणं चेव ण
शून्यस्थानदर्शनेन रिपूणां ज्ञानमेव न
हविस्सइ। कुत्थ पदावो कुत्थ वा तस्स
भविष्यति। कुत्र प्रतापः कुत्र वा तस्य

पयाअणो, अओ अम्हे मुहम्मदधम्माओ
प्रजाजनः, अतोऽस्मान् मुहम्मदधर्माद्
रक्खिउं दारुणा आणा विहिआ।
रक्षितुं दारुणा आज्ञा विहिता।

भि० भगिनी—पदावं रक्ख।
प्रताप रक्ष।

ल० भ्रा० भिल्लः—केणोवाएण।
केनोपायेन।

भि० भगिनी—अम्हे गंतूण पदावस्स सविहे अहवा
वयं गत्वा प्रतापस्य सविधे अथवा
पदावदेवीए सविहे कहिस्सामो- पदावो
प्रतापदेव्याः सविधे कथयिष्यामः- प्रतापः
अज्ज आहेडत्थं ण गच्छउ त्ति अपरिक्खओ
अद्य आखेटार्थं न गच्छत्विति अपरिक्षितो
होहिस्सइ।
भविष्यति।

ल० भ्रा० भिल्लः—जुत्तम्।
युक्तम्।

(इति द्वावपि भ्राताभगिन्यौ गच्छतः)

पटोन्नयनम्।

(अथ प्रभाते तत्रैव राजद्वारे तावुपस्थितौ। ज्वराक्रान्ता मूर्छितेव भिल्ली प्रलपति पदावं रक्खेह ईसरो सो।' प्रताप आगत्यावलोकयति।

प्रताप —केयं ? किमियं कथयति ?

भिल्लः—इमाए भाउणा तुम्हं मारेउं पडिण्णाअं ति णिवेदेउं
अस्या भ्रात्रा त्वां मारयितुं प्रतिज्ञातमिति निवेदयितुम्
आगया।
आगता।

प्रतापः—सौभाग्यवती भव। एवंविधा एव स्त्रियो मम राज्यश्रियः सन्ति।

भिल्ली—मह भत्तणो मारेउं पडिण्णाअं कहं सोहग्गवई
मम भर्तारं मारयितुं प्रतिज्ञातम्, कथं सौभाग्यवती
होस्सामि।
भविष्यामि।

प्रतापः—

तव कान्तमथापि यो निहन्यात् प्रथमोऽसौ रिपुरस्तु मे रिपूणाम्।
मयि रक्षति ते प्रियं त्रिलोक्यां नहि कोऽप्यस्ति निपीडितुं समर्थः॥६॥

भि० भगिनी—सो तुम चेव आणाभंगस्स अवराही।
स त्वम् एव आज्ञाभङ्गस्य अपराधी

(ततः प्रविशतो राजपुरुषैर्गृहीतो धनुर्बाणसहितो भिल्लः राजाज्ञाव-हेलकस्तस्याः पतिश्च।)

राजपुरुषः—महाराज! एष भवन्तं मारयितुं लताविटपान्तरितो भूत्वा स्थित आसीत्, भवतश्चरैरस्य सूचनानुसारिणा मया गृहीतश्च।

भि० भगिनी—महाराअ! एसो क्खु मह भाआ, अवरो मे
महाराज! एष खलु मम भ्राता, अपरो मे
सामी, रक्खेह इमे।
स्वामी, रक्षत इमौ।

अथ प्रतापस्तस्याः सौभाग्यवत्त्वे परिपन्थिनमुद्दिश्य कथयति—तवेति। अथापि मया सौभाग्यवतीत्वेन प्रतिपन्नायां त्वयि यः कोऽपि तव कान्तं पतिं, निहन्यात्—मारयेद्। असौ मे—मम, रिपूणाम्—अक्बरमानसिंहादीनां मध्ये प्रथमो रिपुरस्तु, सर्वेभ्यः पूर्वमसावेव हन्तव्योऽस्तु। ते—तव प्रियं मयि रक्षति सति त्रिलोक्यां कोऽपि निपीडितुं विरोधकरणे तदनिष्टसंपादने समर्थो नास्ति। महाराअ इति 'कगचजतदपयवां प्रायो लुक्' इति जकारलोपः।

प्रतापः—इमौ मुच्येताम्। इयं राज्यलक्ष्मीमाँ वैधव्यं भ्रातृमरण-
दुःखं वा अनुभवतु।

(राजपुरुषः किञ्चिद् वक्तुमिच्छन् स्थितः।)

प्रतापः—नास्मिन्विषये किमपि वक्तव्यम्। एवंविधाया एव
राजभक्तप्रजायाः कृते देशरक्षा। अस्याः पितुः शवोऽपि
दीयताम्।

राजपु०—यथा आज्ञापयति महाराजः।

पटोन्नयनम्

(इति तौ मुञ्चति, शवं च ददाति। ततः सर्वे निष्क्रामन्ति)

(ततः प्रविशति सिंहासनस्थितस्य अकबरस्य सविधे मानसिंहः)

मानसिंहः—विजयताम् विजयताम् सार्वभौमो महाराजः।

अकबरः—(निःश्वस्य) सेनापते! यावदयं प्रतापो न नम्रीक्रियते
तावन्न मे सौख्यं, नापि सार्वभौमता।

'अवर्णो यःश्रुतिः' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात्क्वचिदकार एव। एवम्-भाया-
भाआ, राया-राआ, सोहिअ-सोहिय, अन्धआर-अन्धयार, महिअ-महिय
इत्यादिष्ववगन्तव्यम्। किञ्चिद् वक्तुमिति। असौ भवन्तमेव मारयितुं
प्रच्छन्नः स्थितो गृहीत इत्यक्षम्यापराधोऽसौ निहन्तव्य एव। अपरोऽपि
भवदाज्ञावहेलक इति कथं मुच्यते एषोऽपि हन्तव्य एव। नास्मिन्विषय
इति। सर्वं मयाऽवगत्य विचारपूर्वकमेव कृतमिति नात्र कथनस्यावसरः।

अथ अकबरसमीपे समागतो मानसिंहः सर्वभूम्यधिपतिमकबरं मन्य-
मानः कथयति–विजयतां २ सार्वभौम इति। निःश्वस्येति—प्रताप-
प्रभावतः सार्वभौमताया नाशात्सार्वभौमपदभ्रंशतो दुःखोद्रेकान्निःश्वस्य
कथयति–सेनापते इति। अजिते प्रतापे न मम सुखं, सार्वभौमता तु स्वत
एव नास्ति। तस्मात्किं कर्तव्यमित्याह—यावदिति। यावत्प्रचण्डो-महा-
वीरो, दारुणश्च, प्रतापो-मेवाडाधिपतिः, ज्येष्ठमासिकः संतापश्च, तर्नति-
स्वप्रभावतः स्वातन्त्र्येण तिष्ठति, धर्मेण खेदं जनयति च। तावदेव-
तावत्पर्यन्तं, शान्तिर्नैवागच्छति। एषः प्रतापः त्वया शरवर्षणेन-धारायां

यतः—यावत्प्रतापस्तपति प्रचण्डो न शान्तिरागच्छति तावदेव।
त्वयैव शाम्यः शरवर्षणेन सोष्मागमं पक्वफलं नयैनम् ॥७॥

मान०—आः! महानयमभिमानी, न बहुकालं स्थास्यति यदयं मामपि तिरस्कुरुते।

अकबरः०—किं किम्। 'मानस्याप्यपमानमेष कुरुते' किं सत्यमेतत्?

मानः—सत्यमेवैतत् न श्रुतं, किन्त्वनुभूतमेवैतत्।

अकबरः—आगतं पर्यवसानमस्य, यत् त्वामपि तिरस्कुरुते। को नाम जगति तव तिरस्कर्ता जीवितुं प्रभवति। स्वयमेवासौ कुठारेणात्मपादौ छिनत्ति।

मान०—अथ किम्! मुमूर्षोः पिपीलिकायाः पक्षौ समुत्पद्येते।

अक०ः—सेयं मे निकृतिर्यदेष हतको मत्तुल्यतामिच्छति।
त्वामप्येष तिरस्करोति तदिदं धिग्-धिग् वृथा पौरुषम्॥
किं काश्मीर-कलिङ्ग-वङ्ग विजयात् किं वापि याम्या जयात्
यावन्नैव जितो भवेदयमरिर्मेवाडदेशाधिराट्॥८॥

बाणानां वर्षणेन, शर इव वर्षणेन वृष्ट्या च, शाम्यः-शमनीयः, यथा वृष्ट्या तापः शाम्यते, एवमेव त्वयैव शमनीयः। तथा च सोष्मागमम्-ऊष्मागमेन सहितं, पश्चात्तापेन सोच्छ्वासम्, उष्णयुक्तं च। 'उष्ण ऊष्मागमस्तपः' इत्यमरः। पक्व—चरमावस्थायि फलं दुरदृष्टभोगो यस्य तम्, अन्यत्र परिणतफलमेनं प्रतापं नय प्रापयेत्यर्थः॥ ७॥

अथाकबरः किं किमित्यादिना मानसिंहमुत्तेजयति। पुनरुत्तेजयन् कथयति-सेयमिति। सा इयं परामृश्यमाणा प्रत्यक्षतया मया स्वयमनुभूयमाना च मे मम निकृतिरनादरः, यदेषः मम सीमासन्निधे विद्यमानो, हतको मृतप्रायो, दरिद्रो मत्तुल्यतामिच्छति, स्वातन्त्र्येणात्मानं ख्यापयति। नैतावतैव शाम्यति किंतु एष त्वामपि तिरस्करोति। अहो इत्याश्चर्यं। निष्फलं मज्जीवनं धिक् २ अत्र तुल्यताया इच्छुकस्य तिरस्कारकर्तुश्चै-

मानः—अहमेवं प्रतिजाने ।

जित्वैनं भवतः पदाम्बुजगतं नेष्ये कुटुम्बान्वितं
किं वा व्याकुलितं वनेचरमिव भ्रान्तं विधास्ये क्षणात् ।
यद्वा स्वामबलां सुतां च रुदतीं दृष्ट्वा क्षुधा व्याकुलां
ताम्यन्तं चरणे स्वयं निपतितं सन्धौ नियोक्ष्ये द्रुतम् ॥६॥

अक०—सर्वं त्वयि संभाव्यते । एवं सति त्वामेवास्य देशस्याधिपतिं करिष्यामि ।

मानः—अस्तु । यथा भवद्भ्यो रोचते । श्रुतमेतन्ममागमनसमनन्तरमेव समस्तामेव मेवाडोर्वरां भुवं विध्वस्य कुतोऽपि विनिर्गतः ।

करवप्रतिपत्तये विहितस्य एष इत्यस्य न कथितपदत्वम् । अथ पुनराह—काश्मीरकलिङ्गवङ्गदेशानां विजयात् किम्, न किंचित्तेषां जयासिद्धिः, अथवा याम्या दक्षिणस्या दिशो जयादिकम्, तज्जयेऽपि न सर्वथाऽभिमतसिद्धिर्जाता । यावदयमरिर्मेवाडदेशाधिराट् प्रतापो जितो न स्यात्तावत्सर्वं व्यर्थमेव । अजिते तस्मिन्न सार्वभौमता नापि सौख्यमिति तदाशयः ।

अथ मानस्तं संतोषयन्प्रतापजयाय प्रतिजानीते—जित्वेति । अहं मानसिंहः, कुटुम्बान्वितं कलत्रादिसहितम् एनं प्रतापं जित्वा भवतः पदे, नेष्ये–प्रापयिष्यामि । अत्र कुटुम्बपदेन सुतस्यापि ग्रहणम् । किं वा इतस्ततः भ्रमन्तं विधास्यामि । यद्वा–अमुं दीनमिव व्याकुलितं–व्याकुलचित्तं वनेचरमिव-गृहाभावाद् वननिवासिनमिव भ्रान्तमनवस्थितं क्षणाद् विधास्ये यद्वा स्वाम् अबलाम्, क्षुधा व्याकुलां रुदतीं सुतां च दृष्ट्वा ताम्यन्तं व्यर्थमेव मया विरोधः कृत इत्यादि पश्चात्तापं कुर्वन्तं, स्वयं कस्यचिदपि प्रेरणाया अभावेऽपि चरणे भवत्पदे निपतितम् अमुं सन्धौ—सन्धिकरणे द्रुतं नियोक्ष्ये, नियोजयिष्यामि । स्वजीवनस्योपायाभावेन अगत्या भवच्चरणे निपत्य स्वयमसौ सन्धिं प्रार्थयिष्यतीति भावः । अत्र द्वितीयादित्रिभिश्चरणैः पद्यमाङ्कगतं वृत्तं बिन्दुरूपेण क्षिप्यते ॥ ६ ॥

51255

अक०—कातरोऽसौ, भवताऽवश्यमेव विजेतव्यः।

भवद्भयाद् यो विपिने पलायते
शिलोच्चये वाऽपि निलीयते क्वचित्।
रणाङ्गणे चापधरस्य कुप्यतः
कथं समक्ष स तवागमिष्यति॥ १०॥

मानः—एवमेवैतत्। भवत्प्रतापस्यैवायं प्रभावः। अहमेनं क्षणादेव ग्रहीष्यामि।

(मनसि)—कृपाणपाणिं समराङ्गणागतं
विपक्षपक्षक्षयकारकं क्रुधम्।
नृसिंहशौर्याकृतिधारकं तकं
क एव धर्तुं प्रभवेद्धरातले॥ ११॥

अकबरः सर्वं त्वयीत्यादिना मानसिंहं प्रोत्साहयति।

पुनः प्रतापस्य कातर्यं प्रकटयस्तज्जये सौकर्यातिशयं दर्शयति-भवदिति। यः प्रतापो भवतो भयाद् विपिने घने पलायते। अथवा क्वचिदपि शिलोच्चये पर्वते निलीयते। निह्नुत्य तत्र तिष्ठतीत्यर्थः। सः प्रतापः रणाङ्गणे-रणचत्वरे, कुप्यतः-क्रोधं कुर्वतः, चापधरस्य-धनुर्धारिणस्तव समक्षं कथमागमिष्यति। अत्र पूर्वार्धेन प्रतापस्य कातर्यं निरूप्योत्तरार्धप्रथमपादेन मानस्य निर्भीकता प्रतिपाद्यते, ततश्च प्रतापस्य कातर्यातिशयित्वं व्यज्यते॥ १०॥

अथ अकबरचाटूक्तिभिः प्रोत्साहितो मानः-अहमेनं क्षणादेव ग्रहीष्यामीति कथयति। मनसीति। वास्तविकतया प्रतापस्वरूपं विचारयन् मनसि चिन्तयति।

कृपाणेति। कृपाणं पाणौ यस्य स तथा। शस्त्ररहितः कथंचिद् ग्रहीतुं शक्यते परं तु कृपाणपाणेस्तस्य ग्रहणमसंभवमेव। समराङ्गणे आगतम्, विपक्षपक्षाणां-शत्रुसहायकानां सैनिकानामित्यर्थः, क्षयस्य-नाशस्य कारकम्। तथा क्रुधम्-कोधयुक्तम्। नृसिंहस्य साक्षान्नृसिंहावतारधारिणः प्रभोर्यच्छौर्यं तस्याकृतेर्धारकम्, नृसिंहवच्छौर्यशोभायमानं तकं तं प्रतापम्।

(प्रकाशम्) यद्यपि क्षुद्रोऽयं सुखेन जय्यश्च तथापि वनेचर-सहायकोऽसौ, न जाने कियदस्य बलं भवेदतो महता बलेन सहाक्रमितव्यम् ।

अक०—अस्य भ्राता शक्तिसिंहः एतेन विरुध्य इदानीं मम शरणमेवायातः ।

मानः—यद्यपि शक्तिरहितः सुजयोऽयं तथाऽप्यस्य जये महान् यत्नः कर्त्तव्यः ।

अक०—अवश्यम् परं कैः साधनैरस्योपरि अभियातव्यं, कथं चेत्यादि विचारयितुं सलीमशक्तिसिंहप्रभृतयः प्रष्टव्याः । मन्ये शक्तिसिंहाद् बहुतरभेदस्फोटनं भविष्यति ।

मानः—युक्तमिदम्, परमहं संभावयामि शक्तिसिंहः प्रतापमवलास्य भ्रातृस्नेहानुविद्धः स्यात् ।

अक०—अधुना भेदस्फोटनं तु करिष्यति, तस्य छिद्राणि कथयिष्यति, प्रतिबन्धं च बोधयिष्यति, येन स सुजयो भविष्यति ।

मानः—एवं भवतु, न कापिदनुपपत्तिः ।

(ततोऽकबरः घण्टकया दौवारिकमाह्वयति ।)

दौवारिक ! त्वरितं सैनिकसामन्तान् आनय ।

'अव्ययसर्वनाम्नाम्-'इत्यकच् । क एव धरातले-पृथ्वीमण्डले भटं प्रभवेत् । अश्रोत्तरोत्तरपदैर्मयातिशयो द्योत्यते ॥ ११ ॥

ततश्च नाहं प्रताप ग्रहीतुं शक्य इति निश्चित्य प्रकाशरूपेण महता बलेनाक्रमितव्यमिति साहाय्यं प्रार्थयते । अकबरः प्रतापजये उपायलाभं दर्शयति अस्य भ्रातेत्यादि भ्रातृपदेन सकलतद्रहस्यज्ञातृत्वं,विरुध्येत्यनेन तद्दोषप्रकाशकार्यं, मम शरणमेवेत्यनेन ममानुकूलकारित्वं बोध्यते ।

भ्रातृस्नेहानुविद्ध इति । एतेन चतुर्थाङ्कसमाप्तिगतं प्रतापशक्तिसिंहयोः सम्मेलनं बिन्दुरूपेण प्रक्षिप्यते ।

दौवा० —जहा आणा (प्रणम्य गतः ।)

मानः—श्रूयते भिल्लराजप्रचण्डदण्डेन सर्वेऽपि भिल्लमीणा विरुद्धाः संजाताः ।

अक०—नहि-नहि मूर्खास्ते । प्रतापमवलोक्यैव सर्वे तदनुगामिनो भविष्यन्ति ।

(अथ दौवारिकेण सह सैनिकसामन्ताः प्रविशन्ति)

अक०—दौवारिक ! त्वं स्वनियोगमशून्यं कुरुस्व

(इति निष्क्रान्तो दौवारिकः)

अक०—शक्तिसिंह ! प्रतापो विजेतव्यः, एष मानस्याप्यपमानं कुरुते ।

शक्ति०—महान्योऽयम् । यत् स्वकीयानप्यसौ नावलोकयति ।

अक० —तर्हि अस्योपरि अभियातव्यम् ।

समोलः—केन प्रकारेण, कियता बलेन चेत्यत्र भवद्भिः किं निर्धारितम् ?

अक० —शृणु—

वीराः क्षत्रियवंशजाः कलिकलापारं गता मत्प्रिया
गच्छेयुः पदचारिणः कवचिनस्त्रिंशत्सहस्रं रणे ।
तेषां चापि पुरःसरं शरशतं दन्तावलानां कुलं
यायात्कुन्तधरा व्रजेयुरयुतं मध्ये तयोः सादिनः ॥ १२ ॥

अथ अकबरः स्वसैनिकानां सख्यां तेषां स्थितिं च प्रदर्शयति-वीरा इति । क्षत्रियवंशजाः-परंपरागतशुद्धक्षत्रियवंशोत्पन्ना । एतेन तेषामपलायनं सूच्यते । कलेर्युद्धस्य कलायाः पारगताः-युद्धकलाकुशलाः । एतेन तेषां दक्षत्वं सूच्यते । मत्प्रियाः-मम प्रियाः, अथवा-अहमेव प्रियो येषां ते । एतेन तेषां मत्पक्षपाततया साभिनिवेशेन युद्धकारित्वं बोध्यते । कवचिनः-परिहितकवचाः, पदचारिणः-पदातयः, त्रिंशत्सहस्रं वीराः, रणे-संग्रामे, गच्छेयुः । तेषां वीराणामपि पुरःसरमग्रगामि शरशतं दन्तावलानां हस्तिनां, कुलं यायात्-गच्छेत् 'दन्ती दन्तावलो हस्ती' इत्यमरः । तयो-

किं च—पार्श्वे षष्टिः सहस्रं यवनबलभुवां सैनिकानामुपेया-
दर्वन्तोऽखर्वदर्पा अरबवनभवा सचरेयुः सहस्रम्।
मानः शाहः सलीमः सगरमहवतो शक्तिसिंहादयस्ते
सर्वे सैन्याधिपत्यं समरसुचतुराः कार्यतः संविदध्युः १३

ग्रहीष्यति प्रतापं यो जीवन्तं समरागतम्।
तं तोषयिष्ये बहुशो दानमानविभूषणैः ॥ १४॥

सलीम ! त्वां सैन्याधिपत्ये नियोजयामि। यदि जीवन्नसौ-
न गृह्णीयात्, तदैनं हत्वा अस्य सुतं निगृह्णीयाः।

हस्तिपदचारिणो मध्ये अयुत-दशसहस्रसंख्याकाः कुन्तधराः कुन्तधारिणः, सादिनः-अश्वारोहाः 'अश्वारोहास्तु सादिनः' इत्यमरः। व्रजेयुः-गच्छेयुः ॥ ११॥

पुनरन्याः यवनसैनिकानां संख्याः प्रदर्शयति-पार्श्वे इति। पार्श्वे-तत्सैन्यस्य उभयपार्श्वभागे, यवनबलभुवां-यवनसैन्यतया गृहीतानां, यद्वा यवनानां बलेन भूरुत्पत्तिर्येषां ते तेषाम्। हठाद् यवनतामापादितानां षष्टिः सहस्रम्, उपेयात्। षष्टिसहस्रसंख्याकाः यवनसैनिकाः गच्छन्त्वित्यर्थः। तथा न खर्वं-अखर्वं 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः' इत्यमरः। अखर्वो गर्वो येषां ते तथा। अरबवने भवः उत्पत्तिर्येषां ते-अरबदेशीयवनोत्पन्नाः। वनभवत्वेन स्वातन्त्र्याच्चेषु पराक्रमातिशयो द्योत्यते। सहस्रं सहस्रसंख्याकाः अर्वन्तः-अश्वाः संचरेयुः सम्यक् यथावस्थितरीत्या गच्छन्तु। समरसुचतुराः-समरचातुर्ययुक्ताः, मानो मानसिंहः, शाहः शाहसलीमः सगरसिंह-महावतशक्तिसिंहादयस्ते सर्वे, कार्यतः आवश्यककार्यावसरे, सैन्याधिपत्यं-सैन्ये अधिपतित्वं, संविदध्युः सम्यक्प्रकारेण कुर्वन्तु। एतेन सैन्यपलायनावसरे शाहबाजेन कृतोऽकबरागमोद्घोषो बिन्दुरूपेण क्षिप्यते ॥ १३॥

अथ प्रतापग्रहणाय प्रलोभनद्वारा सर्वान्सज्जीकरोति-ग्रहीष्यतीति। योऽस्मत्सैनिकः समरागतं-समरप्राप्तं जीवन्तं प्रतापं ग्रहीष्यति तं दानेन-ग्रामादीनां दानेन, मानेन-उच्चासनाभ्युत्थानादिना, विभूषणेन, वस्त्राभूषणैः, बहुशो-बहुतरं तोषयिष्ये-प्रसादयिष्यामीत्यर्थः ॥ १४॥

सलीमः—आः ! कोऽयं वराकः—

लीनः पर्वतकन्दरासु विपिने त्रासान्मदीयादसौ
दैवान्मे समरागतो यदि भवेन्नेत्रातिथिः कुत्रचित् ।
क्षिप्रं तर्हि निपात्य तं भुजबलाद् बध्वा भवत्पादयो-
र्नेष्यामीति समस्तसैन्यपसभासाक्ष्ये प्रतिज्ञायते ॥ १५ ॥

पृथ्वी॰—नायं भुजयः, रणविद्याशारदो महाबलिष्ठश्च सः ।
कः कोपोत्कटशक्रचापसदृशभ्रूभङ्गभीमाननं
चञ्चच्चारुकृपाणकृत्तपृतनासृग्बिन्दुकिर्मीरितम् ।

अथ संग्रामे तस्मिन् हते सति तत्सुतमेव निगृह्णीयाः इत्यादिपद्यस्य-कथरः । अथ सलीमः अकिञ्चित्कर प्रतापं मत्वा कथयति—आः कोऽयं वराक इति ।

पुनस्तद्ग्रहण प्रतिजानीते—लीन इति । असौ प्रतापो मदीयात्-मत्संबन्धिनः त्रासाद्-भयात्, पर्वतानां कन्दरासु विपिने-अरण्ये वा लीनः अन्तर्हितः यदि दैवाददृष्टवशतः समरागतः संग्रामप्राप्तः कुत्रचिद्रेनारोहे गजे अश्वे वा कुत्रापि मे-मम नेत्रातिथिः—दृग्गोचरो भवेत्तर्हि क्षिप्रं तं निपात्य भुजबलात्—अन्यनिरपेक्षतया स्वकीयभुजबलेन बद्ध्वा भवत्पादयोः—भवच्चरणारविन्दसमीपे नेष्यामि-प्रापयिष्यामि । इति सैन्यं पान्ति रक्षन्तीति सैन्यपाः 'अतोऽनुपसर्गे कः' इति कप्रत्ययः । समस्ता ये सैन्यपास्तेषां या सभा तस्याः साक्ष्ये साक्षितायां मया प्रतिज्ञायते । सर्वसेनापतीन्साक्षीकृत्य तद्ग्रहणं प्रतिजाने ॥ १५ ॥

अथ पृथ्वीसिंहस्तत्कथनमसहमानः कथयति—रणविद्येत्यादि । रण-विद्यायां विशारदः । तेन त्वया निपातयितुं नैव शक्यः, महाबलिष्ठश्च अतो भुजबलेन नैव बद्धुं शक्यः इति सूच्यते ।

कः कोपोत्कटेति । को नाम त्रिभुवनमध्येऽस्ति यः कोपेन उत्कट-शक्रचापसदृशो यो भ्रूभङ्गः—भ्रुकुटिभङ्गः तेन भीमं—भयकरम् आननं—मुखं यस्य स तम्, तथा चञ्चन् चञ्चलश्चारुर्मनोहरो यः कृपाणः—खड्गस्तेन कृत्ता—छिन्ना या पृतना-विपक्षिसेना, तस्या असृग्बिन्दुभिः रुधिरबिन्दुभिः,

विद्युत्कान्तिसदृक्समस्तसमरे चंचूर्यमाणं भृशं
भीष्मं भीमसमं प्रतापविजयं धर्तुं समर्थो भवेत् ॥१६॥

मानः—संभाव्यते अस्ति प्रतापो वीरः, परमिह तु महावीरा एव सन्ति ।

पृथ्वी०—अलमुक्तिप्रत्युक्त्या । युष्माकं समरभूमिरेव निर्णायिका भविष्यति ।

शक्ति०—युक्तम् । तदेव निर्णयस्थानम् ।

अक०—शक्तिसिंह ! कथय प्रतापसविधे कियती सेना, कीदृशी च वर्तते ।

शक्ति०—अयुतं क्षत्रियास्तत्र खड्गयुद्धविशारदाः ।
पार्णविद्यासु निपुणा भिल्लभोगादयः परे ॥ १७ ॥

स्वल्पा अपि पर्वतारोहिणो धानुष्का एते असंख्यमपि ते सैन्यं समूलं नाशयिष्यन्ति । अतः—

किर्मीरितं चित्रवर्णयुक्तम् । तथा विद्युत्कान्तिरिव समस्तसमरे पश्चिमोत्तरादिभागावस्थितसकलसेनाया भृशमत्यन्तं चञ्चूर्यमाणं—कौटिल्येन भ्रमन्तं भीष्मं भयंकरं, यद्वा—स्वप्रतिज्ञापालने साक्षाद् भीष्मस्वरूपं भीमसमं भीमवन्महाबलशालिनं प्रतापविजयं धर्तुं ग्रहीतुं समर्थो भवेत्, न कोऽपीत्यर्थः । अत्र पूर्वपदेन भयंकररूपवत्त्वं, द्वितीयपदेन शत्रुनाशादिशौर्यकार्यकारित्वं तृतीयपदेन सर्वव्यापकतया त्रासकारित्वं महापराक्रमशालितया आशु वैरिविनाशकारित्वं च, चतुर्थपदेन महाबलिष्ठत्वं स्वप्रतिज्ञानिर्वाहकत्वं च बोध्यते । एतेन घोरसंकटदशायामपि न स्वातन्त्र्यं त्यक्ष्यति विजयं च प्राप्स्यतीति बिन्दुरूपेणोपचितं भवति ॥ १६ ॥

अथ शक्तिसिंहः प्रतापस्य सैन्यसंख्या दर्शयति—अयुतमिति । तत्र प्रतापसेनायां खड्गयुद्धे विशारदाः-प्रगल्भाः, अयुत-दशसहस्रसंख्याकाः क्षत्रियाः । परे—तदतिरिक्ताः, बाणविद्यासु निपुणाः शिक्षिता भिल्लमीणादयः—भिल्लमीणादिजात्युद्भवाः सन्ति ॥ १७ ॥

शतघ्न्यो दशसंख्याः स्युस्तुपका द्वे सहस्रके ।
एवं सैन्यसमारोहे जयोऽस्माकं भविष्यति ॥ १८ ॥

पृथिवीसिंहः—(मनसि) आः ! किमसौ भेदस्फोटनं करोति ।

अकबरः—साधु शक्तिसिंह ! साधु । त्वया सम्यग्मार्ग आदिष्टः । मानसिंह ! त्वयाऽपि सर्वसैन्यसमारोहेण सहाभिगन्तव्यम् । अहमपि अजमेरस्थितो भूत्वा सर्वं यथावसरं संपादयिष्ये ।

(इति सर्वे युद्धोद्युक्ता निर्गच्छन्ति ।)

पटोन्नयनम् ।

(इतोऽश्विरथकायां स्थितः प्रतापः स्वसामन्तादिभिः परामृशति ।)

(ततः प्रविशति आगरातः समायातश्चारः ।)

चारः—जयतु जयतु महाराजः ।

प्रतापः—कथय यवनाधिराजवृत्तान्तम् ।

चारः—स खलूद्विग्नोऽपि स्वनीतिनैपुण्येनात्मानमनुद्विग्नमिव प्रकाशयति ।

स इदानीं मानस्यैवापमानं मुहुर्मुहुः सभायां वदति ।

स्वल्पा इति । पर्वतारोहित्वात् धानुष्कत्वाच्च दूरत एव स्वल्पा अप्येते ते सैन्यं नाशयिष्यन्ति, तेषां नाशोपायस्य तत्र भवत्सविधेऽभावात् । अथ तन्नाशोपायं बोधयति । अतः—अस्मात्कारणात्तेषां पर्वतारोहित्वेन दूरत एव युद्धकारित्वात् भवदुक्तसेनासंरोहादिदमधिकमस्तु ।

तदेव बोधयति—शतघ्न्य इति । शतमपि घ्नन्तीति शतघ्न्यः 'तोप' इति लोके प्रसिद्धम् । ता दशसंख्याकाः स्युः । एवं तुपकश्चापि भवतीत्यत्तुपका 'बन्दूक' इति लोके प्रसिद्धम्, द्वे सहस्रके—द्विसहस्रसंख्याका भवन्तु । एवं सैन्यसमारोहे—सुसज्जितसैन्ययात्रायामस्माकं जयो भविष्यति । यद्येवं न करोषि तदा जयो नैव भविष्यतीति तदाशयः ॥ १८ ॥

अथ आगरातः समायातश्चारः अकबरवृत्तान्तं कथयति—स्वच्छौर्यात् भीताभीतः—अत्यन्तभयप्रयुक्तः, संग्रामे मरणभयात् त्रस्यमानो म्लेच्छराजः सभायां मुहुर्मुहुः मानस्यैव अपमानं वदति ।

प्रता०--कपटकलाकुलीनो धूर्तोऽसौ।

चारः--अथैकदा तेन सलीममानसिंहप्रभृतिप्रधानभटा-
नाहूय जीवन्तं भवन्तं ग्रहीतुं बहुतरं प्रलोभनमदायि।
परं तु सर्वे तच्छ्रुत्वा मौनमेवावस्थिताः। किन्तु सलीम-
मानसिंहौ स्वौद्धत्यं प्रकटयन्तौ भवद्भूमिलिप्सया
भवन्तं ग्रहीतुं प्रतिजानाते स्म।

प्रता०--आः! कोऽयं स्वाभिमानशून्यो मानः।

विक्रीय गौरवमणिं मरणस्य भीत्या
यो म्लेच्छराजमनुगच्छति सेवमानः।
सोऽयं क्षितिं समभिकाङ्क्षति यत्तदेनं
युद्धे क्षितिं स्वभुजदण्डबलेन नेष्ये॥ १९॥

सालुम्ब्रः--(किञ्चिद्विहस्य) बकोऽपि हंसगतिमृच्छति। यदयं
सलीमोऽपि भवता सह योद्धुमभिकाङ्क्षति।

अथ भेदनीतेः कौटिल्यमवगत्य प्रतापः कथयति--कपटकलेत्यादि।

पुनश्चारः कथयति--क्षितिलिप्सया मानस्त्वां ग्रहीतुं प्रतिजानीते इति, माननामश्रवणमात्रतः कुप्यन्प्रतापः कथयति--आः इति। आः इत्युपेक्षायाम्, स्वाभिमानेन--क्षत्रियत्वाद्यर्थस्त्वाद्यभिमानेन शून्यः कोऽयं मानः अयं तु सर्वथा उपेक्षणीय एव अकिंचित्करश्च।

विक्रीयेति। यो मानः मरणस्य भीत्या--अकबरविरोधे संग्राममरण-भयात् गौरवमणि--स्वकीयक्षत्रियत्वादिगौरवरूपं मणिं विक्रीय अकबर-स्यैव सविधे इत्यर्थः, म्लेच्छराजं--म्लेच्छाधिपतिं सेवमानः सन् अनु-गच्छति--अनुसरति, म्लेच्छराजत्वेन नीचाधिपतित्वं तस्य सूच्यते। ततश्च तत्सेवनं तदनुसरणं च महदनुचितमिति मानस्य कातर्येण अनौचित्यका-रित्वं द्योतयति। सः अयं मानो यद्यस्मात्कारणात्क्षितिं--पृथिवीं समभिका-ङ्क्षति तत्तस्मात्कारणादेनं मानसिंहं युद्धे स्वभुजदण्डबलेन--स्वकीयबा-हुबलेन क्षितिं नाशं नेष्ये, क्षितिमभिकाङ्क्षतेऽस्मै स्वभुजदण्डेन क्षितिं दास्यामि॥ १९॥

प्रता०—मूर्खोऽसौ, न जानाति युद्धभूमिर्वीराणामेवागमनस्थानम्
ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं भवतो यथावस्थितं शौर्यं निरूप्य पृथ्वीसिंहेनोक्तम्। युवयोः शौर्यस्य संग्रामभूमिरेव निर्णायिका भविष्यति।

प्रता०—साधु साधु। पृथ्वीसिंहेन युक्तमेवोक्तम्।
ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं लक्षादप्यधिकसुभटसंयुतं हस्त्यश्वशतघ्न्यादिसंहितं तत्सैन्यं प्रचलितम्।

प्रता०—कस्तत्र सेनापतिः?

चारः—सलीमः।

प्रता०—बालोऽसौ कथं सेनापतिः कृतः?

चारः—नाममात्रतोऽसौ सेनापतिः।

प्रता०—तर्हि मानसिंहः कः?

चारः—मानसिंहः सर्वस्वमेव। स तु सेनायाः सेनापतेश्च संरक्षकः। एतदभियानस्य मानसिंह एव कारणम्।

प्रता०—इदं तु विदितमेव, परं कथमसौ बालस्याधिपत्यं स्वीकरोति? सर्वमपि क्षत्रियवंशगौरवमनेन परित्यक्तम्। अस्तु, अथ यवनाधिपतिः कुत्र निवसति?

चारः—सोऽपि द्वितीयामभिनवसेनां प्रदाय इतः किञ्चिद् दूरे अजमेरपत्तने स्थितः। तदागमनानन्तरमेवाहमिहायातः। मन्ये पञ्चभिरेव दिनैः प्रथमं तत्सैन्यमिहागमिष्यति। अतः परं भवन्तः प्रमाणम्।

अकबरसैन्यागमनश्रवणसमनन्तरमेव प्रतापभटानां कृत्यं दर्शयति—अहमिति। विक्रमेण–पराक्रमेण उद्भटाः–महापराक्रमशालिनः सोत्साहाः–परमोत्साहयुक्ताः सर्वे पत्यश्ववारघानुष्कादयः अहंपूर्विकया पूर्वमहं गमिष्यामि, नहि नहि त्वं तिष्ठ पूर्वमहमाक्रमिष्यामि इत्यहंपूर्विकया 'अहं पूर्व-

(अथ प्रतापसहायका रणोद्भटा गर्जन्ति । अहंपूर्विकया स्वस्वकर-
वालमादाय द्रवेडयन्ति ।)

अहंपूर्विकया सर्वे सोत्साहा विक्रमोद्भटाः।
शैलस्थिताः प्रतीक्षन्ते शत्रोरागमनं मुहुः ॥ २० ॥

प्रता०—सेनापते ! अत्रेदं युज्यते, वयं सर्वे सैनिकाः कोमल-
मीरपर्वतस्याधित्यकायां स्थिताः सन्तः शत्रोरागमनं
प्रतीक्षेमहि । इह हि शत्रोराक्रमणं सहसा नैव संभाव्यते।

यतः—अन्तः प्रवेष्टुं सरणिर्लघिष्ठा
यया चरन्तोऽरिभटाः क्रमेण ।
महोपलानामतिवर्षणेन
शरव्रजैर्नाशयितु च शक्याः ॥ २१ ॥

सर्वे—सुयोग्यमिदं स्थानमस्मद्रणभूमेः ।

(इति हल्दी घाटातटे गन्तुं सर्वे परिक्रामन्ति ।)

पटोन्नयनम्

(इतोऽजमेरसदने स्थितः समरवृत्तान्तपरिज्ञानाय समुद्विग्नमना
अकबरश्चिन्तयति ।)

अहं पूर्वमित्यहंपूर्विका स्त्रियाम्' इत्यमरः। मुहुर्वारं वारं शत्रोरागमनं प्रतीक्षन्ते ॥ २० ॥

अथ प्रतापो हल्दीघाटीतटमभिलक्ष्य सेनापतिं कथयति, इह हि शत्रो-राक्रमणं नैव संभाव्यते । तदेव दर्शयति-अन्त इति । अन्तः प्रवेष्टुम् अभ्यन्तरागन्तुं सरणिः पद्धतिर्लघिष्ठा-अतिस्वल्पा, यया सरण्या चरन्तो गच्छन्तोऽरिभटाः क्रमेण आगमनक्रमेण महोपलानां बृहत्पाषाणानामति-वर्षणेन तेषामुपरि सहसा अविरतनिपातनेन शरव्रजैर्बाणसमूहैः सर्वेषां धानुष्काणां सामूहिकतया बाणनिपातनेन नाशयितुं शक्याः । एवं प्रकारेण सर्वे घातिता भविष्यन्तीति भावः ॥ २१ ॥

अथाकबरः 'स्नेहः खलु पापशङ्कीति समरवृत्तान्तस्यापरिज्ञानान्मान-सलीमयोरनिष्टमुद्भावयंस्तर्कयति—मानः इति । अतिमयात् स्त्रियमाणं

अक०—(मनसि) कथमद्यापि समरभूमेर्न कोऽपि समायातः । आः !
परमपराक्रमशालिनो मेवाडीयाः, तेषु प्रतापस्त्वतिवि-
क्रमशाली । तत्र

मानोऽनेन निपातितः किमभवत्किं वा सलीमो हतो
दुर्धीरस्य जये कथं सुतमहं सैन्याधिपत्ये व्यधाम् ।
हा अल्लाः ! स परावृतो यदि भवेत् दिष्ट्या रणादक्षतः
सत्यं तर्हि शपामि नैव समरे तं प्रेषयिष्ये पुनः ॥२२॥

कथं विभ्रान्तमनसा नियुक्तः स्वसुतो मया ।
हनने ग्रहणे तस्य बिडालस्य यथोन्दुरुः ॥ २३ ॥

(ततः प्रविशति दौवारिकः ।)

दौवा०—जेदु जेदु महाराओ ।

जयतु जयतु महाराजः ।

प्रतापं प्रत्यक्षमिव मन्यमान इदशब्देन कथयति । अनेन प्रतापेन किं
मानो निपातितो मारितोऽभवत्, किं वा सलीमो हतः । दुष्टा धीर्यस्य सः,
दुर्बुद्धिरहम् अस्य प्रतापस्य, यद्वा–दुर्धीरस्य प्रतापस्य जये सुतं सलीमं
सैन्याधिपत्ये कथं व्यधाम् । सैन्याधिपतौ हते सति सर्वे स्वयमेव हता
भवन्तीति सैन्यपतिमेव प्रथम सर्वे हिंसन्तीति तदुत्तापः । अतः—आत्मनो
लाः दाता गृहीता चेति अल्लाः । ला आदाने दाने च क्विप्
प्रत्ययः । हा अल्लाः । हा इति खेदे, हे कल्याणकारिन् ! अल्लाः पर-
मेश्वर ! यदि सः मम सुतः दिष्ट्या–ममैव शुभप्रारब्धोदयाद् रणात्सं-
ग्रामाद् अक्षतः–व्रणरहितः परावृतो भवेत्, तर्हि सत्यं शपामि–सत्यं यथा
स्यात्तथा शपथं करोमि यद्वा,–सत्यमेव शपामि । सत्यस्यैव शपथं करोमि,
पुनः अतः परं कदाचिदपि तं सुत समरे संग्रामे नैव प्रेषयिष्ये ॥ २२ ॥

पुनरुद्विग्नः सन् कथयति—कथमिति । विभ्रान्तं मनो यस्य सः
तेन । ज्ञानशून्येन मया बिडालस्य उन्दुरुर्यथा, बिडालस्य हनने ग्रहणे
मूषक इव तस्य प्रतापस्य हनने ग्रहणे स्वसुतः कथं नियुक्तः । प्रतापस्य
बिडालसदृशतया स्वसुतस्य मूषकतुल्यत्वेन कथनात्प्रतापसमक्षं गमनान-
न्तरमेव स हतो भविष्यतीति चिन्तातिशयो द्योत्यते ॥ २३ ॥

(अकबरोऽन्यमनस्कतया विलोकयन्नेव स्थितः।)

दौवा०—महाराअ ! समरभूमिओ जुज्झवुत्तंतवाहओ दुआरि
महाराज ! समरभूम्या युद्धवृत्तान्तवाहको द्वारि
चिट्ठइ।
तिष्ठति।

अक०—प्रवेशय।

(ततः प्रविशति दौवारिकेण सह चारः)

चारः—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः।

अक०—कथय, सलीमोऽपरिक्षतस्तिष्ठति ?

चारः—भवतां पुण्यकर्मप्रभावतोऽपरिक्षत एवासौ।

अक०—सैन्यगमनमारभ्य निःशेषं वृत्तान्तं कथय।

चारः—सलीमसैन्याधिपत्ये प्रचलितं त्वदीयं सैन्यं कोमलमीर-पर्वतोपत्यकामधिजगाम। तत्र स्थित्वा शत्रोरासार-प्रसारानवारीत्सीत्।

अक०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं शत्रवो रात्रौ आक्रम्य बहून्सैनिकान् हत्वा खाद्यसामग्र्यो विलुण्ठ्य न जाने केन मार्गेण पलायन्त। तदनन्तरमुदयपुरं गन्तुं संकीर्णेन पर्वतमार्गेण कति-चित्सैनिका अन्तः प्रविष्टाः परं न ते परावृत्ताः किन्तु तत्रैवावरुध्य सर्वेऽपि विनाशिताः।

अक०—ततस्ततः—

अन्यमनस्कतयेति। स्वसुतस्यानिष्टसंभावनया शोकाकुलतया चिन्तनादन्यमनस्कता। अपरिक्षत इति। सकलवृत्तान्ततः पूर्वं सलीमस्य कल्याणं पृच्छति। न परिक्षतः अपरिक्षतः। सलीमो व्रणितस्तु न जात इत्यर्थः।

चारः—तदनन्तरं पुनरपि अन्ये प्रेषिताः, तेऽपि तथैवावरुध्य विनाशिताः । यदा नैकोऽपि तेभ्यः परावृत्तस्तदा सर्वेऽपि ससैनिका मानप्रभृतयस्तदन्तः प्रविष्टाः । ते यथाकथंचित्संकीर्णमार्गान्निःसृत्य हल्दीघाटीचत्वरे उपागता आसन् ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः प्रतापाज्ञासमनन्तरमेव—

मन्नासालुम्बकाद्याः समरसुचतुरा लब्धभूरिप्रतिष्ठा
युद्धोद्युक्ताः ससैन्या अहमहमिकया क्ष्वेडयन्तः समन्तात् ।
युष्मत्सैन्यं गलीतुं क्षणमपि बहुशो मन्यमानाः समस्ताः
स्वं खड्गं भ्रामयन्तो विपुलतरभटां वाहिनीं ते निजघ्नुः ॥२४॥

इति सहसैव तैस्ते बहुतरा सेना विनाशिता ।

पर्वतप्रान्ताच्च—

बाणाः पन्नगभाः फणाकृतियुताः फुंकारशब्दाकुलाः
कायस्पर्शनमात्रजीवहरणप्राप्तप्रतिष्ठा दृढाः

अथ चारः प्रतापाज्ञासमनन्तरं तत्सैनिकानां कार्यं वर्णयति—मन्नेति । समरेषु सुचतुराः-संग्रामकलाकोविदाः, लब्धा भूरि प्रतिष्ठा यैस्ते-विजितविविधसंग्रामाः, युद्धोद्युक्ताः-युद्धसन्नद्धाः ससैन्याः-स्वस्वसेनासहिताः । एतेन तेषां सामन्तत्वं सूच्यते । अहमहमिकया समन्तात्क्ष्वेडयन्तः, अहमेव पूर्वं गमिष्यामि अहमेव पूर्वं गमिष्यामि इत्यादिवचनैः सर्वतो गर्जन्तः युष्मत्सैन्यं गलीतुं-युष्मत्सेनाया निगरणं कर्तुं, क्षणमपि बहुशो मन्यमानाः-क्षणमात्रमपि विलम्बमसहमानाः समस्ताः सर्वेऽपि मन्नासालुम्बकाद्याः-मन्नासालुम्बादिनामानः, स्वं स्वं खड्गं भ्रामयन्तः सन्तः, विपुलतरा भटा यस्यां सा तथाभूतां ते तव वाहिनीं-सेनां निजघ्नुः-निहतवन्तः । विपुलतरभटत्वेन शौर्यशालिनीत्वं तस्याः सूच्यते, तद्धनने च प्रतापसैनिकानामतिशौर्यशालित्वं व्यज्यते ॥ २४ ॥

जिह्वामुक्तविषा महाभयकराः दीर्घा मरुद्गामिनः
क्षिप्रं त्वत्सुभटान् रणाङ्गणगताञ्जघ्नुः सहस्रं ततः ॥२५॥

अरु०—ततस्ततः—

चार—ततो बाणनिपतनसमनन्तरमेव सेनापतेराज्ञया त्वदीयसेनातश्च

आसन्कल्पमहामहाघनघटाघोरायमाणस्वना
निर्मर्यादसमुद्रभीमनिनदप्रोत्तुङ्गधांकारिकाः ।
छायाभूमितमिस्रनीलवसनप्रस्तारिका विश्वतो
पर्यन्त्यो गुलिकास्ततः प्रचलिताः सर्वाः शतघ्न्यः परा ॥२६॥

अथ बाणवर्णनमाह—बाणा इति । ततस्तदनन्तरं पन्नगाः—सर्पास्तद्वत् भाः कान्तिर्येषां ते, कृष्णवर्णाः सर्पा विषधरा भवन्ति, लोहनिर्मितत्वात् बाणा अपि श्यामवर्णा भवन्ति । तथा फणाकृतियुताः—फणाकारयुक्ताः क्षुरप्रकारार्धचन्द्राकाराणां बाणानां तथात्वात् । फुकारशब्देन आकुलाः व्याप्ताः पक्षयुक्तत्वेन फुकारशब्दयुक्ताः, तथा कायस्पर्शनमात्रेण जीवहरणे मारणे प्राप्ता प्रतिष्ठा येषां ते तथा महाविषधरत्वात्, महाविषे विष्मापितत्वाच्च । दृढाः युवावस्थामापन्नाः उत्तमधानुष्कप्रेरितत्वात्कार्यकरणसमर्थाः । जिह्वया मुक्तं विषं यैस्ते, सर्पं जिह्वाया अवस्थितघटिकया विषं त्यजति, अन्यत्र—जिह्वया अग्रभागेन मुक्तं विषं यैस्ते, तथा महाभयस्य कराः—अत्यन्तभयावहाः, दीर्घाः—दीर्घाकाराः, मरुदिव गन्तुं शील येषां ते तथा शीघ्रगामिनः बाणाः रणाङ्गणगतान्–संग्रामचलत्प्राप्तान्सहस्रं त्वत्सुभटान् त्वदीयोत्तमभटान् जघ्नुः—हतवन्तः । अत्र विषधरसर्पैः सह बाणानां साधारणधर्मत्वप्रतिपादनाद् यथा विषधरसर्पदष्टा जीवा हता एव भवन्ति, एवं बाणनिहतास्त्वदीयभटा मृता एव अभवन्निति व्यज्यते ॥ २५ ॥

अथ त्वदीयसेनापतेराज्ञया प्रचलिताः शतघ्नीः प्रदर्शयति—आसन्निति । ततस्तदनन्तरं कल्पे—प्रलयसमये या महामहाघनघटाः—अतिमहामेघघटास्तद्वद् घोरायमाणः स्वनो यासां तास्तथा, निर्मर्यादो—मर्यादारहितो यः समुद्रस्तस्य भीमनिनदस्तद्वत्प्रोत्तुङ्गधांकारिकाः तत्सदृशमतिसमुन्नतं धाम्

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः क्षणमात्रेण उभयतः सेनायां बहवो भटा निपतिता आसन्। एतदवलोक्य प्रतापः क्रोधारक्तनयनस्त्वत्सैन्ये प्रविवेश। तत्र—

हस्ते खड्गं दधानश्चरति किमु यमो वीरसंघं विचिन्वन्
मृत्युर्वा कायधारी गिलति तव भटान् यं विलोक्यान्वमंस्त।
सैन्यं ते दारयन्सोऽविशदतुलघनव्यूहमध्ये प्रतापो
गच्छंश्चिच्छेद सर्वं कृषक इव महावीरसंघं क्षणेन ॥२७॥

खड्गाखड्गि ततश्चासीदुभयोः सैन्ययोर्महत्।
कुन्ताकुन्त्यशरवारेषु दारुणं सांपरायिकम् ॥ २८ ॥

इति शब्दं कुर्वत्यः, तयोरुभयोर्मध्ये अन्तराले तस्मिन्नेव नीलवसनं तस्य प्रस्तारिकाः। अतिशयितधूमप्रसरेण नीलवसनस्य प्रस्तारणमारोप्यते। विश्वतः सर्वतो गुलिका वर्षन्त्यः—अविरलभावेन अनारतं क्षिपन्त्यः, पराः—उत्कृष्टाः, सर्वाः शतघ्न्यः प्रचलिता आसन्। युगपत्सर्वशतघ्नीनां प्रचलनाद् बहवः प्रतापसैनिका निपतिता मृताश्चाभवन्नित्यर्थः ॥ २६ ॥

यदा उभयसेनायां बहवो भटा निपतिता आसंस्तदा क्रुद्धः प्रतापस्त्वत्सेनायां प्रविवेश, इति तत्कृत्यं दर्शयति—हस्ते इति। हस्ते खड्गं दधानो वीरसंघं विचिन्वन् वीरसमुदायमेव मारयन् यमो यमराजः किमु चरति। वा—अथवा, कायधारी गृहीतशरीरो मृत्युस्तव भटान् गिरति, तव भटाना निगरणं करोति। क्षणमात्रतस्तव भटानां मरणेन तत्रादर्शनान्निगरणं संभाव्यते इति यं प्रतापं विलोक्य लोकोऽन्वमंस्त अनुमिनोति स्म। अथ सः प्रतापस्ते सैन्यं दारयन्सन् अतुलघनव्यूहमध्ये सान्द्रसेनासंनिवेशे, अविशत्—प्रविवेश। तत्र गच्छन्सन् क्षणेन क्षणमात्रतः सर्वं महावीरसंघं कृषक इव चिच्छेद। यथा कृषकः सर्वं सस्यादिकं क्षणेन छिनत्ति तथैव प्रतापोऽपि महावीरसंघं चिच्छेद। महावीरानमारयदित्यर्थः ॥ २७ ॥

अथोभयसैनिकयोः कीदृग्युद्धमभूदिति दर्शयति—ततस्तदनन्तरमुभयोः सैन्ययोः खड्गाखड्गि—खड्गैश्च खड्गैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तमिति

अङ्क०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं कस्यचित्प्रतापभटस्य कबन्धस्य महदाश्चर्यकरं किमपि शौर्यं व्यलोकि।

धृत्वा खड्गं कबन्धः क्षतजशबलितो व्यूहमध्ये प्रविष्टो
नृत्यन्भिन्दन् प्रधावंश्चपलतरमसिं चालयन्सर्वतो द्राक्।
शीर्षं जङ्घोदरं चाऽच्छिनदखिलमरेः सैन्यचक्रं समन्तराद्
विद्राव्यैवं स वीरस्तव विपुलबलस्यैकसंहारकोऽभूत्॥२६॥

खड्गाखड्गि, तथा अश्ववारेषु कुन्ताकुन्ति-कुन्तैश्च कुन्तैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तमिति कुन्ताकुन्ति, महत् दारुणं भयंकरं सांपरायिकं युद्धमासीत्॥ २८॥

अथ चारः प्रतापसैनिकस्य कबन्धस्य कृत्यं दर्शयति-धृत्वेति। क्षतजेन-रुधिरेण, शबलितः चित्रवर्णोपितः, कबन्धः-शिरोरहितो देहः, खड्गं धृत्वा व्यूहमध्ये-त्वदीयसेनासमूहे प्रविष्टः, तत्र नृत्यन्-कबन्धस्वभाव एवैषः यदसौ यावन्न निपतति तावन्नृत्यत्येव। भिन्दन्-त्वदीयभटान्नाशयन्, प्रधावन्-द्रुततरगतित्वात् धावन्निव प्रतिभाति। सर्वतश्चतुर्पु दिक्षु, द्राक्-शीघ्रं, चपलतरमतिचञ्चलं, यद्वा—चपलतरं यथा स्यात्तथा असिं चालयन्, प्रबलतरक्रोधावेशशोषंधमुद्रेकात्प्रकुपितो वायुस्तथा कारयतीति कबन्धस्वभावः। स च कबन्धश्छिन्दन् स्वकीयशिरसश्चक्षुषाऽवलोकयन् कार्यं करोतीति दर्शयति। अरेः-शत्रोरेव न तु स्वकीयस्यापि शीर्ष-मस्तकं तथा जङ्घोदरं-जङ्घा च उदरं च। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। अच्छिनत्। अखिलमिति क्रियाविशेषणम्। अखिलं समस्तं यथा स्यात्तथाऽच्छिनत्-प्रबलतर-वायुप्रवेगाभिघातात्तथाऽच्छिनत् यथा द्विधैवाभवदित्येव स वीरः कबन्धः समन्तात्सैन्यचक्रं विद्राव्य-इतस्ततः कृत्वा, तव विपुलबलस्य एकोऽद्वितीयः संहारकः-संहारकर्ताऽभूत्। बहुतरसेनाविनाशस्तेन विहितोऽभूदित्यर्थः॥ २६॥

अपि बहवस्त्वदीयभटास्त्वदीयसेनां नाशितवन्त इति दर्शयति-

यावदेकः प्रथमः कबन्धो न निपतति तावदन्यतः अन्य-

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततः क्षणमात्रेण उभयतः सेनायां बहवो भटा निपतिता आसन्। एतदवलोक्य प्रताप क्रोधारक्तनयनस्त्वत्सैन्ये प्रविवेश। तत्र—

हस्ते खड्गं दधानश्चरति किमु यमो वीरसंघं विचिन्वन्
मृत्युर्वा कायधारी गिलति तव भटान् यं विलोक्यान्वमस्त।
सैन्यं ते दारयन्सोऽविशदतुलघनव्यूहमध्ये प्रतापो
गच्छंश्चिच्छेद सर्वं कृषक इव महावीरसंघं क्षणेन ॥८७॥
खड्गाखड्गि ततश्चासीदुभयोः सैन्ययोर्महत्।
कुन्ताकुन्त्यस्त्रवारेषु दारुणं सांपरायिकम् ॥ ८८॥

इति शब्द कुर्वत्यः, द्यावाभूम्योर्मध्ये अन्तराले तमिस्रमेव नीलवसन तस्य प्रस्तारिका। अतिशयितधूमप्रसरेण नीलवसनस्य प्रस्तारणमारोप्यते। विश्वत सर्वतो गुलिका वपन्त्य –अविरलभावेन अनारत क्षिपन्त्यः, परा – उत्कृष्टाः, सर्वा शतघ्न्यः प्रचलिता आसन्। युगपत्सर्वशतघ्नीना प्रचलनाद् बहव प्रतापसैनिका निपतिता मृताश्चासन्नित्यर्थः ॥ ८६ ॥

यदा उभयसेनाया बहवो भटा निपतिता आसस्तदा क्रुद्धः प्रतापस्त्वत्सेनाया प्रविवेश, इति तत्कृत्य दर्शयति—हस्ते इति। हस्ते खड्ग दधानो वीरसघ विचिन्वन् वीरसमुदायमेव मारयन् यमो यमराज किमु चरति। वा–अथवा, कायधारी गृहीतशरीरो मृत्युस्तव भट न् गिरति, तव भटाना निगरण करोति। क्षणमात्रतस्तव भटाना मरणेन तत्रादर्शनान्निगरणं सभाव्यते इति य प्रताप विलोक्य लोकोऽन्वमस्त अनुमिनोति स्म। अथ स प्रतापस्ते सैन्य दारयन्सन् अतुलघनव्यूहमध्ये सान्द्रसेनासनिवेशे, अविशत्–प्रविवेश। तत्र गच्छन्सन् क्षणेन क्षणमात्रत सर्वं महावीरसघ कृषक इव चिच्छेद। यथा कृषकः सर्वं सस्यादिक क्षणेन छिनत्ति तथैव प्रतापोऽपि महावीरसघ चिच्छेद। महावीरानमारयदित्यर्थः ॥ ८७ ॥

अथोभयसैनिकयोः कीदृग्युद्धमभूदिति दर्शयति—ततस्तदनन्तरमुभयो सैन्ययो. खड्गाखड्गि–खड्गैश्च खड्गैश्च प्रहृत्य इदं युद्ध प्रवृत्तमिति

अक०—ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं कस्यचिद्मतापभटस्य कवन्धस्य महदाश्चर्यकरं किमपि शौर्यं व्यलोकि।

धृत्वा खड्गं कबन्धः क्षतजशबलितो व्यूहमध्ये प्रविष्टो
नृत्यन्भिन्दन् प्रधावंश्चपलतरमसिं चालयन्सर्वतो द्राक्।
शीर्षं जङ्घोदरं चाऽच्छिनदखिलमरेः सैन्यचक्रं समन्तराद्
विद्राव्यैवं स वीरस्तव विपुलबलस्यैकसंहारकोऽभूत्॥२९॥

खड्गाखड्गि, तथा अश्ववारेषु कुन्ताकुन्ति-कुन्तैश्च कुन्तैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तमिति कुन्ताकुन्ति, महत् दारुणं भयंकरं सांपरायिकं युद्धमासीत्॥ २८॥

अथ चारः प्रतापसैनिकस्य कबन्धस्य कृत्यं दर्शयति-धृत्वेति। क्षतजेन-रुधिरेण, शबलितः-चित्रवर्णार्पितः, कबन्धः-शिरोरहितो देहः, खड्गं धृत्वा व्यूहमध्ये-त्वदीयसेनासमूहे प्रविष्टः, तत्र नृत्यन्-कबन्धस्वभाव एवैषः यदसौ यावन्न निपतति तावन्नृत्यत्येव। भिन्दन्-त्वदीयभटान्नाशयन्, प्रधावन्-द्रुततरगतिरत्वात् धावन्निव प्रतिभाति। सर्वतश्चतुर्षु दिक्षु, द्राक्-झटिति, चपलतरमतिचञ्चलं, यद्वा-चपलतरं यथा स्यात्तथा असिं चालयन्, प्रबलतरक्रोधावेशशौर्यसमुद्रेकाल्प्रकुपितो वायुस्तथा कारयतीति कबन्धस्वभावः। स च कबन्धश्छिन्दन् स्वकीयशिरसश्चक्षुषाऽवलोकयन् कार्यं करोतीति दर्शयति। अरेः-शत्रोरेव न तु स्वकीयस्यापि शीर्षं-मस्तकं तथा जङ्घोदरं-जङ्घा च उदरं च। प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः। अच्छिनत्। अखिलमिति क्रियाविशेषणम्। अखिलं समस्तं यथा स्यात्तथाऽच्छिनत्-प्रबलतर-वायुप्रवेगाभिघातात्तथाऽच्छिनत् यथा द्विधैवाभवदित्येव स वीरः कबन्धः समन्तात्सैन्यचक्रं विद्राव्य-इतस्ततः कृत्वा, तव विपुलबलस्य एकोऽद्वितीयः संहारकः-संहारकर्ताऽभूत्। बहुतरसेनाविनाशस्तेन विहितोऽभूदित्यर्थः॥ २९॥

मृता अपि बहवस्तदीयभटास्त्वदीयसेनां नाशितवन्त इति दर्शयति-न यावदिति। यावदेकः प्रथमः कबन्धो न निपतति तावदन्यतः अन्य-

न यावन्निपतत्येकः कबन्धस्तावदन्यतः ।
उत्थाय तव सेनायां प्रविश्याहन्सहस्रशः ॥ ३० ॥

अक०—महदेव तत्सैनिकानां शौर्यम् । शौर्यसमुद्रेकादेव कबन्ध उत्तिष्ठति । वाढमियं मेवाडभूमिर्वीरप्रसविनी । ततस्ततः—

चारः—तदन्तरा प्रतापः स्वकीयं चेतकमश्वमितस्ततो भ्रामयन् कमपि मृगयमाण इवासीत् । स च यत्रैवायाति, तत्रैव त्रस्ता इव भवदीया भटाः पलायमाना आसन् । तानवलोक्य प्रताप एवमवादीत्—

क्षुद्रास्त्रासं जहीत द्विपरदनभिदो मामकोऽसौ कृपाणो
युष्मद्देहेषु लज्जां चरति निपतने मा पलायध्वमस्मात् ।
शक्ते ! त्वं तिष्ठ तावन्न खलु मम रुषो भाजनं चासि, किन्तु
छत्रघ्नातिं द्विपन्तं मलिनहृदमहं मानमन्वेषयामि ॥ ३१ ॥

अक०—तदानीमसौ मानः कुत्रासीत् ?

तस्मात्स्थानादुत्थाय ततोऽपर उत्थायेत्यर्थः, तव सेनायां प्रविश्य सहस्रशः अहन् । अहन्निति हन्धातोर्लङि रूपम्, अवधीदित्यर्थः ॥ ३० ॥

अथ चारः प्रतापस्य शौर्यातिशयं दर्शयति—क्षुद्रा इति । भो भो मम भयेन पलायनपरत्वात्क्षुद्राः यूयं त्रासं जहीत–त्यजत । तत्र हेतुं प्रदर्शयति–मामको–मदीयोऽसौ कृपाणः युष्मद्देहेषु निपतने लज्जां चरति । अस्मात्कारणात् यूयं मा पलायध्वम् । हस्तिदन्तच्छेदादिदृढ़-रकार्यकर्तुर्मत्खड्गस्य क्षुद्रेषु मृदुलतरयुष्मद्देहेषु निपातो लज्जास्पदमेवेति न युष्मानहं हनिष्यामीति फलितं भवति । हे शक्ते ! त्वं तिष्ठ, तावदिदानीं त्वं मम रुषः– मम क्रोधस्य भाजनं न च नैवासि, नेदानीं त्वां हन्तुमहमुद्युक्तोऽस्मीति भावः । किन्तु छत्रघ्नातिं द्विपन्तं–स्वकीयस्यैव छत्रघातेर्द्वेष्टारं, मलिनहृदं–मलिनं हृदयं हृद्–यस्येति तं मलिनचित्तं मानं–मानसिंहम् अन्वेषयामि–मृगयामीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अथ चारः प्रतापसैनिकानां कृत्यं वर्णयति–एकस्मादिति । एक-

चारः—न जाने क्वासौ अन्तर्हितः, किन्तु सर्वसेनायाः पश्चाद्भागे एव स्थित आसीदिति संभावयामि ।

अक०—किमसौ प्रतापाद्बिभेति ?

चारः—युज्यते चैतत्कथमन्यथा सर्वसेनायाः पश्चाद्भागे एव स्थितोऽभवत् ।

अक०—अस्तु, ततः किमासीत् ?

चारः—ततो रणोद्भटाः प्रतापभटास्त्वदीयसेनामाक्रान्तवन्तः ।

एकस्मात्करवालचालनपटुः शोणिर्गुरु स्थानत-
श्चन्द्रावत्परतोऽच्छिनत्तव भटान्स्वं चन्द्रहासं क्षिपन् ।
सालुम्बोऽपि विलुम्पयन् रणकथां वीरान् विचिन्वन्पुन-
र्मन्त्राख्यश्च तरक्षुरेव विभिदे व्यूहं प्रविश्यान्तरा ॥ ३२ ॥

अत्रान्तरे ग्वालियरक्षितीशः
श्रेष्ठैर्भटैः स्वैः सहितो दधाव ।
सैन्यं त्वदीयं सहसा विदीर्य
जयध्वनिं केसरिवच्चकार ॥३३॥

स्मात्स्थानतः करवालचालनगुरुः—खड्गशिक्षकः शोणिः—शोणिनामको गुरुः, परतो द्वितीयस्मात्स्थानाच्चन्द्रावन्नामकः सामन्तः स्वस्वकीयं चन्द्रहासं क्षिपन् तव भटानच्छिनत् । पुनः सालुम्बोऽपि रणकथा विलुम्पयन् सग्रामवार्तामेव समाप्नुवन्, सर्वेषां विनाशे स्वत एव रणवार्ताया विनाशो भविष्यति इति सर्वानेव नाशयन्निति व्यज्यते । वीरान्विचिन्वन् पुष्पचयनमिव यथा मालाकारः कलिका विहाय पुष्पाण्यवचिनोति । एवं सालुम्बोऽपि कातरान् विहाय वीरानेव मारयन्, मन्त्राख्यश्च साक्षात्तरक्षुरेव अन्तरा—सेनाया मध्ये, प्रविश्य व्यूहं बिभिदे, तथा द्वावपि हतवन्तौ येन सेनासन्निवेशः स्वत एव चिच्छेद इत्यर्थः ॥३२॥

अत्रान्तरे इति । व्यूहभेदनसमनन्तरमेव श्रेष्ठैरुत्तमैः स्वैः स्वकीयैर्भटैः सहितः ग्वालियरक्षितीशः—ग्वालियरप्रदेशाधिपतिः दधाव सोऽपि

अक०—ततस्ततः—

चार —तदनन्तरमेव—

यातः कोऽपि घटोत्कचाकृतिसमो दन्तावलानां बले
तेषां मूलकवन्महीरुहभुजातुल्यान् करान्सोऽच्छिनत्।
त्रस्तस्तेन भवन्मतङ्गजगणः स्वां वाहिनीं तर्जयन्
मृद्नंश्चापि निषादिनोऽप्यगणयन् पश्चात्पलायिष्ट स ॥३४॥

अक०—ततस्ततः—

चार.—तदनन्तरं कमन्धशौर्यतो वित्रस्यमानं सहसा सालुम्बादीनामाक्रमणतः क्षुभ्यमाणं गजादीनां मर्दनादुद्विजमानं भवत्सैन्यं गजैः सहैव पलायितम्।

अक०—आः व्यर्थमेव मदोन्मादिना मया सर्पैः क्रीडितुमभिलषितम्। नैतदवगतं, यत्प्रतापान्मानो बिभेति। अस्तु, ततस्ततः—

चार —तदनन्तरं पलायमानं स्वसैन्यमवलोक्य सलीमप्रभृतयो विमनस्का इवासन्। किन्तु शाहबाजस्त्वदीय

आक्रमतेत्यर्थः। सहसा त्वदीयं सैन्यं विदीर्य केसरिवत्—सिंह इव जयध्वनिं चकार। स च त्वदीयसैन्यपराजयं मत्वा सिंहवद्गर्जेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अथान्यस्य सैनिकस्य कृत्यमाह—यात इति। घटोत्कचस्य आकृतिरिव आकृतिर्यस्य स तथाभूतः कोऽपि अज्ञातनामा प्रतापसामन्तः दन्तावलानां—हस्तिनां बले—सेनायां यातः—प्राप्तोऽभूत्। स तेषां हस्तिनां महीरुहभुजातुल्यान् वृक्षशाखासदृशान् करान्—शुण्डादण्डान्, मूलकवद् अच्छिनत्—अनायासेनैव तांश्चिच्छेदेत्यर्थः। ततस्तदनन्तरं तेन शुण्डादण्डच्छेदनकर्मणा त्रस्तो भयभीतो भव मतङ्गजगणो—भवद्हस्तिसमूहः, स्वां—स्वकीयां वाहिनीं—सेनां तर्जयन् मृद्नंश्चापि मर्दयंश्च निषादिनोऽपि—हस्तिपकानपि अगणयन्—तेषामङ्कुशवचनप्रयोगममानयन्, द्राक्—झटिति, पश्चात् पलायितोऽभूत्। त्रस्तो हस्तिसमूहः स्वसेनाभिमुखमेव पलायितोऽभूत् येन ते वाहिनी मर्दितेत्यर्थः ॥ ३४ ॥

उपसेनापतिः सेनामध्ये प्रविश्य यश पटहमवादीत्, अकथयच्चैतत्-भो भो सैनिका मा पलायध्वम्, यत श्रीमानकबरः स्वयमेवासंख्यातां सेनामादाय समराङ्गणे समुपतिष्ठते ।

अक०—साधु, साधु युक्त एव तेन सेनाछलनप्रयोग आरब्धः । मन्ये स फलित एवाभवत् ।

चार—अथ किम् । ततस्तड्ढक्काशब्दश्रवणानन्तरमेव सर्वमपि सैन्यं पुन परावर्तत । फलितश्च तस्यायं तन्त्रप्रयोग । ततः पुनरपि ततोऽप्यधिकतरं सोत्साहं ते बल युयुधे ।

अक०—ततस्तत —

चार—ततो व्यूहे भग्ने विनाशिते बहुतरे त्वदीये सैन्ये सलीमगज प्रतापदृग्गोचरो बभूव । अथात्रैव मान इति मन्यमान प्रताप सोत्साहं कपोते श्येन इव तदुन्मुखं चेतकं स्ववाजिनं चिक्षेप ।

अक० आः सलीम ! ममैवायं दोषः, यत्त्वां कातरहस्ते समर्पितवान् । ततस्तत —

चारः—तदन्तरा सेनापतिरक्षका पञ्च शतं भटा प्रतापं रोद्धुं ग्रहीतुं मारयितुं च समुपस्थिता, परं तु न जाने स कथं केन कटा च सर्वानेव चिच्छेद । आः परमसाहसिकोऽसौ । चेतकोऽपि परमशिक्षित एव ।

अक०—ततस्ततः—

चार —अथ गजोन्मुखं क्षिप्तश्चेतक उत्प्लुत्य सलीमगजकुम्भान्तरे पदद्वयं निधाय स्थित आसीत् । प्रतापोऽपि तत्र गच्छन्नेव हस्तिपकशिरश्चिच्छेद । कोऽयं ममोपरि समापतित इति मन्यमानो गजोऽपि तत्रसे ।

अक०—आः सलीमोऽपि किं हतः ? हा मम जीवनसर्वस्व ! हा ममाज्ञापरिपालनपरित्यक्तप्राण ! हा प्रजावत्सल !

(इति ब्रुवन् सद्यो मूर्च्छति ।)

चारः (सोद्वेगं तालवृन्तमादाय उद्बोधयति । उद्बुद्धः सन्)

अक०—सलीमः किं हतः ? कथय कथय त्वरितं किमिति नोच्यते ।

चारः—महाराज ! कुमारस्तु अपरिक्षत एव । भवान् किमित्युद्विजते ।

अक०—(समुच्छ्वस्य) कथय, स च कथं केन रक्षितः ?

चारः—गजग्राससमनन्तरमेव चेतको भूमाववततार । परं प्रतापश्चेतकं पुनः परावृत्य तथैव गजकुम्भान्तरे चिक्षेप । पुनः प्रतापेन चालितः करवालः सलीममञ्चं चिच्छेद । सलीमश्च तदन्तरा एव निलीनः । परं नु हतः सलीम इति सेनायामुद्घोष आसीत् । ततो हा सेनापते ! हा महाराजाभिराजप्राणप्रिय ! हा युवराज ! इति त्वदीयसैनिका विलपन्तो रुरुदुः । हस्तिपकशून्यस्त्रस्तश्च स गजः सलीममादाय बहुतरदूरं पलायिष्ट ।

अक०—(मनसि) अलमुद्धतशौर्येण. कातरोऽपि सन् जीवतु । नाहमतः परं प्रतापसंमुखे त्वां प्रेषयिष्यामि ।

(प्रकाशम्) ततस्ततः

चारः—ततस्त्वदीयभटाः प्रतापं रुरुधुः । गृह्यतां वा हन्यतां वा एषः. मा पलायतामिति वदन्तः प्रतापं ग्रहीतुं हन्तुं चोद्युक्तवन्तः । उद्घुष्टं सेनायाम् सलीमो जीवतीति ।

अक०—ततस्ततः—

चारः—ततो भवत्सैनिकैः सर्वतश्छन्नं प्रतापमवलोक्य सालुम्बकृष्णरावमहेश्वरसिंहप्रभृतयस्तदीयभटाः प्राणपणेन समुद्धर्तुमयतन्त । सहस्रशस्त्वदीयभटांश्छिन्दन्तः

प्रतापसविधे ते सर्वेऽपि समागतवन्त आसन्। तदानीं पलायमानं त्वदीयसैन्यमकबरः समायात इत्युक्त्वा मानसिंहोऽवरुरोध।

अक०--ततस्ततः—

चारः—ततश्चतुर्षु स्थानेषु कुन्तैर्विद्धो गुलिकया हतोऽपि तैः सामन्तैः सार्धं तव सैन्याज्जीवन्नेवाऽसौ निर्गतः प्रतापः। परमसौ प्रताप इति छत्रचामरलाञ्छनेन परिज्ञाते सति सर्वेऽपि त्वदीयभटाः पुनः पुनस्तमेवाक्रमन्त।

अक०—साधु सैनिकानां प्रकारः। यतस्तस्मिन् हते सर्वे हता एव। ततस्ततः—

चारः—ततो 'निपात्यतामिदं हैममातपत्रम्, निपात्यतामिदं हैममातपत्रम्, एतच्चिह्नेन मेवाडाधिपतिमेव सर्वे समाक्रामन्ति' इति प्रतापसैनिकानां सर्वत एवोद्घोषः प्रावर्तत। परं तु प्रतापः स्वाग्रहेण राजचिह्नभूतं हैमच्छत्रं नैव न्यपातयत्।

अक०--ततस्ततः –

चारः—तदनन्तरं प्रतापस्योपरि निपततस्त्वदीयभटानालोक्य विजयतां विजयतां प्रताप इत्युद्घोषयंस्त्वदीयसैनिकभटान्नाशयन् झालारमहीपतिः प्रतापस्याभिन्नहृदयः सुहृद् मन्नासिंहः प्रतापसविधे समागत्य मेवाडाधिपतेश्चिह्नभूतं छत्रं गृहीत्वा स्वोपरि स्थापयामास, अकथयच्च प्रतापम्, 'अपसरतु भवान्संग्रामभूमेः। त्वयि जीवति सति स्वातन्त्र्यमधिगमिष्यति मेवाडः। आर्यस्थितिरपि चिरस्थायिनी भविष्यति। अन्यथा अद्यैव मेवाडपदे निपात्यते दासतायाः शृङ्खला, समूलमार्यस्थितिरपि विनङ्क्ष्यति।'

अक०—साधु तेन तर्कितम्। ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं प्रतापो मेवाडाधिपत्यचिह्नं हैमच्छत्रं परित्यज्यापि त्वदीयभटांश्छेत्तुं प्रावर्तत। परमसौ स्वल्पेनैव कालेन मुमूर्षोश्चेतकस्य गतिमवगत्य शतशो विद्धं तच्छरीरं चावलोक्य संग्रामभूमेरपासरत्। त्वदीयभटाश्च मन्नासिंहं निपात्य-'हतः प्रतापः, जितमस्माभिः' इत्युद्घोषितवन्तः।

अक०—अस्थाने भ्रान्ताः सैनिकाः। ततस्ततः—

चारः—तदनन्तरं तदीयभटास्ततोऽप्यधिकतरेणोत्साहेन अनुध्यन्त। एतदवलोक्य युष्मद्भटैरवगतं नायं हतः प्रतापः। तस्मिन्नेव क्षणे सेनाया बहिर्भागे गच्छन्तं प्रतापमवलोक्य तदनुधाविनौ द्वौ सादिनौ तयोरप्यनुधाविनं शक्तिसिंहमवलोक्य अवश्यमेव प्रतापो हतो निगडितो वा समेष्यतीति सर्वेऽपि निश्चितवन्तः। शुभवृत्तान्तमिदं श्रावयितुमहमिहायातः।

अक०—सुशोभनमिदं फलितं स्यात्ते वचनम्।

(पटोत्क्षेपणम्)

(हतौ द्वौ सादिनौ निहत्य पदचारिणं प्रतापं समाह्वयति शक्तिसिंहः।)

शक्ति०—भो भो नीलाश्वारोहिन्! तिष्ठ।

प्रता० – (परावृत्य) आः! शक्तिरेषः।

(मनसि)

आपद्गतं नष्टसुहृत्सपक्षमेकाकिनं निर्जनभूमियातम्।
हन्तुं महीतुं किमुपागतो मां बन्धुर्विपक्षाश्रयणाच्च शत्रुः॥३५॥

अथ शक्तिसिंहमवलोक्य प्रतापो मनसि तर्कयति—आपदिति। आपदं गतः आपद्गतस्तम्, अश्वस्य मरणासन्नत्वात् स्वस्य रुधिरनिस्सरणेन श्रान्तत्वाच्च आपत्तौ प्राप्तम्, अथ च नष्टाः सुहृदः-मित्राणि, सपक्षाः-सहायका यस्य स तम्, अत एव एकाकिनमसहायम्, तत

(प्रकाशम्)

रे रे निर्घृण ! देशघातक ! कुलाङ्गार ! क्षमाभारक !

स्वं सज्जीकुरु कुन्तमाशु निपतत्यूर्ध्वं तवैव क्षणात् ।
हत्वा त्वामवनेर्निरस्य कलुषं त्वत्पापशुद्धिं चर—
न्नात्मज्ञातिविपक्षपक्षचरणे गर्वं च ते चूर्णये ॥ ३६ ॥

(शक्तिसिंहः प्रतापवचनं शृण्वन्नेव खड्गं कुन्तं च दूरतः क्षिपति ।
रुदन्नेव कथयते ।)

शक्तिसिंहः — भ्रातः ! क्षमस्व ममापराधम् । बाढमहं देशद्रोहकः ।

एवं निर्जनभूमियातं-निर्जनस्थानं प्राप्तं मा बन्धुर्बन्धुभूतः शक्तिसिंहः किं हन्तुं-मारयितुं ग्रहीतुं वा समुपागतः, यद्यपि बन्धौ नैतत्संभाव्यते परं तु विपक्षस्य शत्रोराश्रयणात् शत्रुरेव । यद्यपि वास्तविकतया नायं शत्रुः, परं तु शत्रोराश्रयेण शत्रुरेवेत्यर्थः ॥३५॥

अथ शक्तिसिंहः शत्रुरेवेति निश्चित्य कथयति–रे रे इति । रे रे नीचातिनीच ! निघृण ! निष्करुण ! आपत्तिसमयेऽपि प्रहारकारित्वा-त्करुणाराहित्यं सूच्यते । देशघातक ! मेवाडदेशस्य दास्यतासंपादने सहायकत्वाद्देशघातकत्वम् । कुलाङ्गार ! म्लेच्छदासतास्वीकारात्कुलप्रति-ष्ठादाहकत्वेन कुलाङ्गारकत्वम् । क्षमाभारक ! पूर्वोक्तपापयुक्तत्वेन ज्येष्ठभ्रात्रा मया सह विरोधकरणाच्च पापाचारित्वेन पृथिव्या भारभूतत्वं सूच्यते । एवं संबोध्य कथयति स्वं-स्वकीय कुन्त सज्जीकुरु, यत एतत्ते हृदये सतापो मा भून्छलेन विद्धोऽहम् । अथ पुनः प्रबोधयति—एष प्रतापः क्षणात्क्षणमात्रेण ऊर्ध्वं प्रत्यासत्त्या तवैवोर्ध्वं निपतति । अथ फलं दर्शयति—त्वा हत्वा, अवनेः-पृथिव्याः कलुषं-दुरित निरस्य, तव मरणेन पृथिव्याः कलुषस्य निवृत्तिः स्वत एव भवति । त्वत्पापशुद्धिं चरन् कुर्वन् सन् , त्वन्मारणमेव तव प्रायश्चित्त संपादयन्सन् , आत्म-ज्ञातेः-स्वकीयक्षत्रियज्ञातेर्विपक्ष--शत्रुर्योऽकबरस्तस्य पक्षचरणे-तत्पक्षस्वी-कारे ते तव गर्वमभिमानं च चूर्णये । तव मरणेन अकबरपक्षाश्रयणाज्जा-यमानस्तव गर्वोऽपि उपशमिष्यति ॥३६॥

न जाने कुतो मे बुद्धौ भवितव्यतावशादापतितः पाषाणः।

(प्रतापः शक्तिवचनमाकर्ण्य त्वरितमेव शक्तिसिंहं वक्षसा आलिङ्गति)
(शक्तिसिंहः प्रतापपदे निपतति।)

प्रता० (रुदन् शक्तिसिंहमुत्थापयति।) कुतोऽयमनुराग· ?

शक्ति०–न दासतां गच्छतु मातृभूमिस्त्वदर्थमेतान्भवतः सपत्नान्।
संग्रामभूमौ पतितान्निरीक्ष्य त्वदर्थमेवाप्लवते मनो मे ॥३७॥

भ्रातस्त्वदीयश्चेतको मृतः।

प्रता०—मुमूर्षुमेनमवलोक्यैव संग्रामभूमेर्बहिरागतोऽहम्।

शक्ति०—सेनातो बहिर्गच्छन्तं भवन्तमवलोक्य द्वौ म्लेच्छराज, सादिनौ मारयितुमनुधावितौ। एतदवगत्य अहमपि द्रुततरं तावनुगत्य अन्तरैव हत्वा तव चरणयोः प्राप्तः। अधुना स्थानान्तरमपसरतु भवान्। कदा चिन्म्लेच्छसैनिका मद्विलम्बात्संदिहाना इहाप्यागच्छेयुः। अतः परं त्वरितमेवाहं दासतायाः शृङ्खलां भङ्क्त्वा त्वत्सेवायां समेष्यामि।

((प्रतापः निष्क्रान्तः।)
(पटोन्नयनम्। शक्तिश्च रणभूमिमागच्छति)

मानः—शक्ते ! किं निहतः प्रतापः ?

शक्तिसिंहश्च रुदंस्तत्पदे निपतति। प्रतापोऽपि चेतसो द्रवीभावाद· श्रूणि विमुञ्चति।

अथ शक्तिसिंहोऽनुरागकारणं दर्शयति—न दासतामिति। मातृ, भूमिर्मेवाडभूमिर्दासता न गच्छतु, तदर्थमेतान्प्रत्यक्षतयाऽवलोकितान् भवतः सपत्नान्-भवत्सहायकान्, संग्रामभूमौ पतितान्मृतान्निरीक्ष्य त्वद· र्थमेव त्वदुद्देश्यकत्वेनैव, मे-मम मनः आप्लवते। त्वदर्थमेवायं मे देहो भवतु इति मनोऽभिलषतीत्यर्थः॥ ३७॥

शक्ति०—स नैव हतः, किन्तु स एव तौ द्वावपि सादिनौ निहत्य क्व पलायितः इति नाहं जाने ।

मानः—अहो सायंकालः संवृत्तः । पश्य—

आरुण्यं गगनाङ्गणे समुदितं मुष्णत्प्रतीच्या मुखात्
क्षोण्यां धावदशेषवस्त्वपहरत्प्राचीपदादुद्भवत् ।
ज्ञानं चाप्यपसारयत्स्वपरयोः शान्तिं समुत्पादय-
न्नीलैर्लिम्पदिवान्तरं गतभिदं ध्वान्तं समुज्जृम्भते ॥३८॥

इति वाद्यतां विजयपटहः (इति तदाज्ञया कश्चित्सैनिको विजयपटहं वादयति) (इतश्चन्द्रायस्सेनापतेराज्ञया प्रतापसैनिकोऽपि विजयपटहं वादयति । इति निवर्तन्ते उभयोरपि सेनयोः सैनिकाः ।)

(ततः प्रविशन्ति रणभूमौ वीरभद्रसहिताः पिशाचाः ।)

अथ मानः सायंकालमवलोक्य कथयति—आरुण्यमिति । प्रतीच्याः-पश्चिमाया मुखात् गगनाङ्गणे-आकाशे समुदितम् आरुण्यं मुष्णत्-चोरयत्, क्षोण्या-पृथिव्यां धावत्-त्वरितगत्या प्रसरत् । अशेषवस्तु, जातिवादेकवचनम् । समस्तान्यपि वस्तूनि अपहरत् । प्राचीपदात्पूर्वदिशः स्थानात् उद्भवत् प्रादुर्भवत् । तथा स्वपरयोर्ज्ञानं च अपसारयत्-अयमात्मीयः अयं परः परकीय इति ज्ञानं निवारयत् शान्तिं समुत्पादयत्-सर्वेषां स्वस्वव्यापारान्निवृत्तेः शान्तिं जनयदित्यर्थः । अन्तरपृथिव्याकाशयोरन्तरालं नीलैः नीलवर्णैर्लिम्पदिवेत्युत्प्रेक्षा । गतभिद्-गतो भिदो यस्मात्, एकाकारतया अभेदरूपेण स्थितं ध्वान्तमन्धकारं-समुज्जृम्भते-क्रमशः ऊर्ध्वतिर्यग्भूभागादिप्रदेशेषु वर्धते ॥ ३८ ॥

अथ तृतीयपिशाचो मन्नाधिहशीर्षं लब्ध्वा कथयति—अनेनेति । अनेन मन्नाधिहशीर्षेण-महेश्वरः-श्मशाननिवासी रुद्रो महतीं-बृहत्तरां सुमुण्डमालां विशिष्टवीराणां मुण्डैर्निर्मितां मालां परिगुम्फयिष्यति । ततश्च अपूर्वं रूपं यस्य तत्तया लोकोत्तरशोभातिशायि, सुमेरुणा संगतं-सुमेरुसगत्म्, अद्यावधि तथाविधवीरस्यानुपलब्धेः सुमेरुरहितामेव माला

पिशाचः—अले ले सज्जो मालिअस्स अस्स उसिणो लुहिलो।
अरे रे सद्यो मारितस्य अस्य उष्णं रुधिरम्।
अले अम्हे अप्पाणं घडे भलिस्साभो।
अरे वयम् आत्मना घटान्भरिष्यामः।

द्वि० पिशा०—अले ले इमस्सिं बहुयलं मज्जा। अणेण अम्हाणं
अरे रे अस्मिन् बहुतरा मज्जा। अनेन अस्माकं
बहुकालो गमिस्सइ।
बहुकालो गमिष्यति।

तृ० पिशा०—अले अम्हेहिं मन्नासीहसीसो लद्धो।
अरे अस्माभिर्मन्नासिंहशीर्षं लब्धम्।
अणेण सीसेण महेसलो महं सुमुण्डमालं पलिगुम्फइस्सइ।
अनेन शीर्षेण महेश्वरो महतीं सुमुण्डमालां परिगुम्फयिष्यति।
अउव्वलूवो थ सुमेलुसंगओ विलक्खणो लुद्दलो लगिस्सइ ३९
अपूर्वरूपश्च सुमेरुसङ्गतं विलक्षणं रुद्रारो लगिष्यति ४०

द्वि० पिशा०—अले ले मए हत्थिसमूहवित्तासअस्स महेसल-
अरे रे मया हस्तिसमूहवित्रासकस्य महेश्वर-
सीहस्स सिलो लद्धो।
सिंहस्य शिरो लब्धम्।
एयं जगओ जणणी लुद्दाणी कालिआ सुमालाए।
एतज्जगतो जननी रुद्राणी कालिका स्वमालायाः।

परिदधाति। अतः परं लोकोत्तरशौर्यशालिनस्तस्य शीर्षं मुण्डमालायां सुमेरुर्भविष्यति, तत्संबन्धश्च उरसा भविष्यति। एवं सुमेरुसंगतं विलक्षणम्-अनिर्वचनीयशोभायुक्तं रुद्रोरः लगिष्यति, तथाविधमालया अत्यन्तशोभायुक्तं महेश्वरस्य वक्षःस्थलं भविष्यतीति भावः ॥ ३९ ॥

एतदिति। जगतः-सकलचराचरलोकस्य, जननी-उत्पादयित्री, रुद्राणी कालिका एतन्मुण्डं स्वमालाया उत्तमवीरपुरुषाणां मुण्डैर्निर्मि-

मज्झे घलिऊण महं समसाणं साहु भम्मिस्सइ ॥४०॥
मध्ये धृत्वा महाश्मशानं साधु भ्रमिष्यति ॥ ४० ॥

वीरभद्रः—पश्यत पश्यत—

एष क्ष्मातलशायिनं शवमुरःप्रान्ते निधायोन्नतै-
रुग्रैः स्वैर्नखरैर्विपाट्य किमपि क्रोडादुपादित्सते।
मज्जां लिम्पति पादयोः परिदधात्यन्त्रं तनौ कौतुका-
दव्यग्रं पिशितं समुन्नतरदैरुत्कृत्य भुङ्क्ते सुखात् ॥४१॥

(ततो निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके चतुर्थोऽङ्कः।

तस्या आत्ममालाया मध्ये धृत्वा तत्रैनदपि परिगुम्फ्य महाश्मशानं तत्रैवास्या निवासात् साधु-सम्यक् प्रकारेण यथेच्छं भ्रमिष्यति ॥ ४० ॥

अथ वीरभद्रः कस्यचित्पिशाचस्य कृत्यं स्वसहचरान्दर्शयति-एष इति। एषः पुरो दृश्यमानः पिशाचः, क्ष्मातलशायिनं-पृथिव्यां निपतितं, शवं-कस्यचिद्वीरस्य मृतदेहम्, उरःप्रान्ते-उरसः वक्षस्थलस्य समीपे, निधाय-स्थापयित्वा, जङ्घाद्वयस्योपरि स्थापने उरःप्रान्ते स्वत एव स्थितिर्भवति। उन्नतैरुग्रैरतिकठोरैः स्वैर्नखरैः-स्वकीयनखैर्विपाट्य क्षिप्रं-शीघ्रमेव तन्मध्यात्सम्यक् प्रकारेण किमपि उपादित्सते ग्रहीतुमिच्छतीत्यर्थः। मज्जां पादयोर्लिम्पति। शिरोवक्षसोः शीर्षदेहयोरन्त्रं परिदधाति, अन्यमेव स्वदेहे परिधत्ते इत्यर्थः। अव्यग्रं यथा स्यात्तथा समुन्नतरदैस्तीक्ष्णोन्नतदन्तैः, पिशितं-मांसम् उत्कृत्य-ततः किञ्चिच्छित्त्वा, सुखात् भुङ्क्ते खादतीत्यर्थः। 'भुजोऽनवने' इत्यात्मनेपदम् ॥ ४० ॥

इति श्रीमहामहोपाध्याय—विद्यावारिधि-सर्वतन्त्रस्वतन्त्रमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके चतुर्थोऽङ्कः।

पञ्चमोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(अजमेरप्रान्ते स्वशिविरे एकाकी स्थितोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अक०—हतो भटैः स्याद् यदि वा गृहीतः
संतापकारी तपनः प्रतापः ।
ततो भवेद्राज्यमखण्डमेवम्
सुखी परः स्यामपि सार्वभौमः ॥ १ ॥

कथं समरभूमेर्नाद्यापि प्रतिनिवर्त्तन्ते सैनिकाः । अहो मानोऽपि चिरयते । किमसौ प्रतापो निःसृतः, किं वा रात्रौ पुनः संग्रामः प्रवृत्तः । (पुनर्दक्षिणदिशमवलोकमानस्तर्कयति ।)

एतद् भूमिपरागरञ्जितपदं पिङ्गं नभो दृश्यते
भूयो भूय इव क्षमातलसमुद्भूतो ध्वनिः श्रूयते ।

यदकबरश्चिन्तयते तद्दर्शयति—हत इति । संतापकारी—दुःखदाता, तपनः—साक्षात्सूर्यस्वरूपः, सिंहो माणवक इति वत्सूर्यगतपरिप्रकाशित्व-भास्वरकान्त्यादिगुणविशिष्टः, यद्वा—संतापकारी—मानसिकदुःखदाता, तपनः—तपस्वी । प्रतापः भटैः मत्पक्षस्थैः अस्मद्भटैर्हतो मारितः स्यात् यदि वा गृहीतः स्यात्, तदा तदनन्तरमेतद्राज्यमखण्डं संपूर्णं स्यात्, अहं परःउत्तमः सुखी, सार्वभौमोऽपि स्याम् ॥ १ ॥

अकबरो दक्षिणदिशमवेक्षमाणस्तर्कयति—एतदिति । एतन्नभः भूमेः पृथिव्याः परागैर्धूलिभी रञ्जितं पदं स्थानं यस्येति तथाभूतं सदिपङ्ग-पीतवर्णं दृश्यते । सैन्यागमने धूलिभिराच्छादितं गगनमवगम्यत इत्यर्थः । तथा भूयो भूयः इव वारं वारमिव क्षमातलसमुद्भूतः पृथ्वीतलाज्जाय-मानो ध्वनिः श्रूयते । तथा एव प्रत्यक्षतया विलोक्यमानः शनैर्मन्दं मन्दं गच्छन् श्यामलः—श्यामवर्णो मत्तो—मदोन्मत्तो गजनिवहो—हस्ति-

एष श्यामलमत्तनागनिवहो गच्छन्घनैर्ज्ञायते
नूनं मानसलीमशक्तिसहितैः सैन्यैः समागम्यते ॥ २ ॥

(ततः प्रविशति शाहबाजमानसिंहसहितः सलीमः ।)

सलीमः—

मेवाडराजं हतमित्रवर्गं भवद्भटैश्छिन्ननखाङ्कुशास्त्रम् ।
सहायभिन्नं विपिनेऽतिघोरे विद्राव्य सिंहं प्रणुते सलीमः॥३॥

मानः—प्रतापगर्वशमको मेवाडध्वजमर्दकः ।
सार्वभौमस्य मानोऽसौ वन्दकीं कुरुते प्रभोः ॥ ४ ॥

शक०—(साश्चर्यमिव) किमसौ प्रतापः पलायितः ? न धृतो नैव वा हतः ? । अधृतेऽहते वा प्रतापे नाहं सार्वभौमः ।

सली०—भिन्नसपक्षो हतप्राय एव सः ।

समूहो ज्ञायते । नूनं—निश्चितमेव मानसलीमशक्तिसहितैः सैन्यैर्हस्त्यश्वपदात्यादिभिः समागम्यते । सैन्यस्य ध्वन्यादिभिरिदमवगम्यते मेवाडं विजित्य सकुशलैरेव सर्वैरागम्यते ॥ २ ॥

सलीमः प्रथमन्स्वकार्यं सूचयति, मेवाडराजमिति । सलीमः, हतः मित्रवर्गो यस्य सः त तथाक्तम् । भवद्भटैस्त्वत्सैनिकैश्छिन्नानि नखाङ्कुशास्त्राणि यस्य तम् । सिंहपक्षे—नखान्येव अङ्कुशास्त्राणि यस्येति । प्रतापपक्षे-नखानीव अङ्कुशास्त्राणि यस्य तम्, सहायभिन्न सहायैरपरभटैः, अन्यत्र शृङ्खल्याप्यादिभिर्भिन्नं रहितम् । सिंह–सिंहस्वरूपं-प्रतापम् अतिघोरे-महाभयंकरे विपिने–वने विद्राव्य–प्रणुते–नमस्करोति ॥ ३ ॥

अथ मानः स्वकार्यं सूचयन् प्रणुते—प्रतापेति । प्रतापगर्वस्य शमकः-प्रतापगर्वविनाशक इत्यर्थः, तथा मेवाडस्य–मेवाडदेशस्य ध्वजस्य-पताकाया मर्दकः–मेवाडं विजित्य तत्पताकाया ध्वंसकः, असौ मानो मानसिंहः सार्वभौमस्य सर्वभारतस्याधिपतेः प्रभोरकबरस्य वन्दकीं–वन्दनां परिचर्यां वा कुरुते ॥ ४ ॥

अक०—कथमसौ जीवन्निसृतः ? श्रुतमेतन्मया मुल्तानी-
खुरासान्यौ भटावनुधावितौ, तदनु शक्तिसिंहश्च
प्रधावित इति पुनरपि कथमसौ न निहतः ?

मानः—शक्तिसिंहोऽपरिवृत्त एव परावृत्त इति संभावयामि
शक्तिसिंहेनैव तौ निहत्य स्वभ्राता रक्षितः ।

अक०—आम् ! युक्तं संभाव्यते एवमेवैतत् । अस्तु । प्रतापो
ग्रहीतव्यो हन्तव्यो वा, चिरकालं स्थितः पुनरु-
पद्रोष्यति ।

शाहवाजः—मामाज्ञापयन्तु महाराजाः । अहमेनं क्षणाद्
विजित्य बध्वा च आनेष्यामि ।

अक०—शाहवाज ! सर्वं त्वयि संभाव्यते । अथ त्वरितमेव गच्छ ।

निबिडविपिनमध्ये कन्दरामन्दिरे वा
शिखरिशिखरभागेऽधित्यकायां स्थितं वा ।
सकलमवनिभागं शोधयित्वा निबध्य
त्वरितमरिममुं त्वं मत्पदे पातयेथाः ॥ ५ ॥

तस्य स्थितेः शोधनार्थं पञ्चत्रिंशत्सहस्रसंख्याकान्भटान्नयस्व ।

(ततः प्रविशति स्वानुचरभटैरनुगम्यमानः शक्तिसिंहः ।)

शक्ति०—विजयताम् एकलिङ्गेश्वरः ।

अकबरः शाहवाजमाज्ञापयति— निबिडेति । त्वं सकलमवनिभागं-
मेवाडभूभागं, शोधयित्वा निबिडं-सघनं यद् विपिनं-वनं तस्य मध्ये तत्
कन्दरैव मन्दिरं-भवनं तत्र स्थितम् । यद्वा-कन्दरा च मन्दिरं चेति
कन्दरामन्दिरम् 'जातिरप्राणिनाम्' इत्येकवद्भावः, तस्मिन् , कन्दरायां
मन्दिरे देवालये गृहे वा स्थितम् । तथा शिखरिणः पर्वतस्य शिखराणां
भागे कस्मिंश्चित्प्रदेशे स्थितम् । अथवा-अधित्यकायां पर्वतस्योपरि
स्थितम् । अमुमरिं प्रतापं निबध्य त्वरितं-शीघ्रं मत्पदे पातयेथाः,
मच्चरणौ पातय ॥ ५ ॥

मानः—(मनसि) कथमसौ एकलिङ्गेश्वरस्य जयं प्रार्थयते। बाढं विरक्तोऽस्तीति ज्ञायते।

अक०—कथमसौ प्रतापो विनिःसृतः? कथं वा त्वया परित्यक्तः?
(अन्तरैव सलीमः शक्तिसिंह वक्ति।)

सली०—सत्यं कथय त्वामभयदानेन परिपालयामि।

शक्ति—तौ भटौ निहत्य मया प्रतापो रक्षितः।
(सर्वे साश्चर्यमिव शक्तिसिंहमवलोकन्ते।)

सली०—कस्मादसौ रक्षितः?

शक्ति०—सालुम्बतातो निहतः समक्ष—
मन्याययातैः सुभटैस्त्वदीयैः।
रुग्णे विषण्णे च पलायमाने—
ऽनुधावनं क्रौर्यमिदं न शौर्यम् ॥ ६ ॥

सली०—तर्हीदानीमस्मत्पक्षाद्विरक्तोऽसि?

शक्ति०—बाढं विरक्तोऽस्मि।

सली०—तर्हि यथेच्छं गच्छ। अभयदानेन परिपालितोऽसि।

शक्तिसिंहः अकबरपक्षत्यागकारणपुरस्सरं प्रतापरक्षणे कारणं प्रदर्शयति—सालुम्बेति। समक्षं मम समक्षमित्यर्थः। अन्याययातः—अन्यायेन यातैः पश्चाद् भागान्निलीय यातैस्त्वदीयैः सुभटैरुत्तमभटैर्न तु साधारणभटैः; सालुम्बतातो निहतः। पितृस्थानीयः सालुम्बतातो मम समक्षमेव युष्मद्भटैरन्यायान्निहत इति पक्षत्यागकारणं वीजरूपेण सूचितम्। अथ प्रतापरक्षाकारणं दर्शयति। रुग्णे-व्रणादिना मूर्छिते, विषण्णे-पुत्रादिमरणेन विषादयुक्ते रणात्पराङ्मुखे इत्यर्थः तथा पलायमाने-पलायनं कुर्वति सति अनुधावन—पश्चादाक्रमणकरणं शौर्यं न। नैतच्छूराणां कार्यम्, किं तु इदं क्रौर्यम्, क्रूराणामेवेदं कार्यम्। अश्वस्य मरणाधन्नत्वात्प्रतापो विषादयुक्त एवासीद्, अतः स मया रक्षितः ॥ ६ ॥

शक्ति०—समरैकव्रतानां मृत्युनिर्भयाणां भटानां नैव कुतोऽपि भयमस्ति। (इति ब्रुवन्नेव स्वानुचरभटैः सहैव निष्क्रान्तः।)

सली०—युक्तं मानेन तर्कितम्।

मानः—मया तदाकृत्या चेष्टया व्यवहारेण चावगतमासीत्। भवता युक्तमेव कृतम्, यदसौ निस्सारितः, न जाने पिशुनोपाद् रुष्टस्सन् कमप्याक्रामेत्।

अक०—यावदसौ प्रतापसाहाय्याय समुपतिष्ठते ततः पूर्वमेव प्रतापो ग्रहीतव्यः। अन्यथाऽस्य साहाय्येन स प्रबलो भविष्यति।

शाहबाजः—कोऽसौ वराकः।

द्वित्रैर्दिनैरेव निपात्य चैनं बद्ध्वा भवत्पादतले च नेष्ये।
कोऽसौ वराकः किमु वा प्रतापो रणे धृतासौ मयि युध्यमाने ॥७॥

अक०—तर्हि नेदानीं कालः प्रतीक्षितव्यः।

सली०—इदानीं वर्षाकालः संवृत्त इति द्विमासानन्तरमेवाभियातव्यम्, अन्यथा पर्वतीयनद्यादिभिर्महती हानिः संपत्स्यते, विजयाशा च दूरे स्थास्यति।

अक०—(मानस्याभिमुखं पश्यन्) मानसिंह! किमत्र युज्यते?

मानः—युक्तमेव सलीमस्तर्कयति।

अक०—शाहबाज! एवमेव भवतु। प्रतीक्षस्व तावद्वर्षाकालम्।

(ततो निष्क्रामन्ति मानप्रभृतयः।)

अक०—दौवारिक! विश्रान्तिमभिलषामि तद् विश्रामस्थानं प्रदर्शय,

दौवा०—इदो इदो महाराओ।
इत इतो महाराजः।

(इति दौवारिकेण सह निष्क्रामत्यकबरः)

द्वितीयो दृश्य. । पटोत्रयनयम्

(इतः प्रतापो वर्षाकालेऽवकाशमासाद्य अवशिष्टान्सामन्तान्सैनिकाश्चै-
कत्रीकृत्य गोमन्धपर्वते स्थितः शत्रोरागमनं प्रतीक्षते ।)
(शक्तिसिंहः स्वभटैः सह परामृशन्नागच्छति ।)

शक्ति०—राज्ञः समीपे रिक्तपाणिभिरस्माभिर्नैव गन्तव्यम् ।

भटाः—इयमेव शास्त्रमर्यादा, तद्योग्यमुपायनं गृहीत्वैव गन्तव्यम् ।

शक्ति०—ममैतत्प्रतिभाति, यदिदं पुरतो दुर्गं विलोक्यते तदेव-
द्विजित्य एतदेवोपायनं दातव्यम् ।

भटाः—एतत्क्षणशो वयं विजेष्यामहे । (इति शक्तिसिंहो भटैः सह
गच्छति । गत्वा तद्रक्षकं निपात्य बध्वा च दुर्गोद्घाटनयन्त्रं
गृह्णाति । स्वकभटप्रार्थनया तमनुमुच्याऽऽगच्छति । एवं ■
द्विजित्य प्रतापसमीपे स्वभटैः सहितः शक्तिसिंहः उपतिष्ठते ।)

शक्ति० मातृभूमिसुरक्षार्थं गृहीतासिव्रतानुग ।
लघुभ्राता त्वदीयोऽयं शक्तिस्ते प्रणतः पदे ॥ ८ ॥

(इति प्रणम्य प्रतापचरणे तालिकां समर्पयति ।)

प्रता०—कीदृगियं तालिका ?

शक्ति०—भवच्चरणारविन्दसेवार्थमागच्छता मया विचारित-
मिदम्, यत्प्रभो राज्ञः समीपे रिक्तपाणिना नैव
गन्तव्यमतः 'किंसरूर' दुर्गं विजित्य मेवाडध्वजं
तत्रारोपितम् । कतिचिद्भटाश्च तत्र तद्रक्षणाय नियुक्ताः ।
इयं तदुद्घाटनतालिका ।

अथ शक्तिसिंहः स्व प्रतापानुगामिनं सूचयन्प्रणुते—मातृभूमीति ।
मातृभूमेः शोभनप्रकारेण रक्षार्थं गृहीतः असिव्रतो येन सः, तस्य
अनुग –अनुचरः । भवदनुचर इत्यर्थः, लघुभ्राता तव लघुभ्राता,
त्वदीयः–सर्वथा अनुगामी अयं शक्तिसिंहस्ते पदे प्रणतः–भवचरणे
निपतितोऽस्तीति ॥ ८ ॥

प्रता०—प्रसन्नोऽस्मि त्वदीयेन एतत्कृत्येन, तत्त्वैवाधिकारे तिष्ठतु।
(इति तालिका ददाति ।)

शक्ति०—किमत. परं युद्धाद्विराममभिलषन्ति महाराजाः ।

प्रता०—असंभावितमेतत्—

यावन्म्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्वं न संचूर्णये
तापं चात्मकृतौ परं विदधतं सन्धौ न तं पातये ।
मानस्याप्यभिमानमुन्नतमहं सर्वं न चोच्छदये
तावद् युद्धसमुद्यमात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि नावर्तये ॥ ९ ॥

शक्ति०—युक्तम्, एवमेव युज्यते । अहं तु भवतामनुचर एव ।
यावज्जीवं युद्धाय समुपस्थास्ये ।

(तदनन्तर स्वभटान्प्रतापसाहाय्यार्थं विमुच्य स्वय तत्रैव दुर्गे समुपगच्छति शक्तिसिंह. ।)

चारः (प्रविश्य) महाराज, वर्षाकालसमाप्त्यनन्तर मानशाहखानप्रभृतयो भवन्त ग्रहीतु महता बलेन सनह्य प्रचलिताः ।

पटोन्नयनम् ।

(तत प्रविशति कस्याञ्चिदरण्यान्या प्रताप मृगयमाण इन्द्रपुराधिपतिः)

सामन्तः—(तत्र कञ्चन भटमवलोक्य, मनसि ।)

नूनमनेन प्रतापसैनिकेन भाव्यम् । को वाऽन्य एकाकी एवंभूतायामरण्यान्यां भ्रमितुं शक्नोति । अस्तु, तावदाभाषणेन प्रत्येमि । (स्फुटमवलोक्य) अहो' ...प्रतापसहा-

यावदिति । यावन्म्लेच्छानेरकवरस्य गर्वं न सचूर्णये—नैव नाशयामि । आत्मनः परमत्यन्त ताप—पश्चात्ताप विदधत कुर्वन्त नैव पातयामि च । तथा अहं समुन्नत-लोके ... मानसिंहस्यापि सर्वमभिमान न च उच्छे... तावद् युद्धसमुद्यमाद् युद्धोद्योगात्स्वहृदय युद्धान्नैव विरतो भवामीत्यर्थः ॥ ९ ॥

यको रुद्रसिंहभटो ज्ञायते । (प्रकाशम्) भो रुद्रसिंह ! जयतु जयतु एकलिङ्गेश्वर ।

रुद्रसिंहः—अहो इन्द्रपुराधिपति सामन्त । जयतु २ एकलिङ्गेश्वरः ।

साम०—कुत इदानीं प्रयातोऽसि ?

रुद्र०—आगरानगरात् ।

साम०—श्रूयते अकबरेण स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाय विपणिः कारिता ।

रुद्र०—एवं कथय आर्यगौरवनाशाय व्यभिचारशिक्षणाय च विपणिः कारिता ।

साम०—कथम् ?

रुद्र०—स चाकबर स्वयं प्रच्छन्नवेषेण सानुचरो गत्वा आर्य-मर्यादां नाशयति ।

साम०—तर्हीदानीमार्यमर्यादा महानदतटीव संवृत्ता, ईश्वर एव तां रक्षतु ।

रुद्र०—ईश्वरश्चिदानीं पाश्चात्यदेशेषु परिभ्रमणार्थं गतः । अत आर्यमर्यादां मेवाडप्रदेशजाता एव रक्षन्तु ।

साम०—प्रताप क्वेदानीम्

रुद्र०—शृणु, संक्षेपेण कथयामि । यदा अकबरभटा गोगन्धपर्वत-मवरुध्य स्थिता आसंस्तदा तत्र ससामन्त प्रताप किञ्चित्कालं युद्ध्वा कोमलमीरपर्वते अगच्छत् । इतो रात्रौ शिविनीसिंहः प्रतापसामन्तः स्वभटैः सार्द्धं तमस्येव सहस्रशो यवनभटाश्छिन्दन् सूर्यमण्डलनिर्गमनान्तरमेव तमपि विभिद्य परमं स्थानं गत ।

अथ प्रतापस्य विपत्तिं प्रदर्शयति—गरलमिति कृष्णचित्तः—कृष्णे चित्त यस्य सः कृष्णाराधकः । यद्वा कृष्णं पापाक्रान्तत्वात्कृष्णवर्णं चित्तं यस्य सः तथा । यवनपते. सहाय —सहायभूत , सेर्ष्य—ईर्ष्यायुक्तः प्रतापस्य शिवोपासकत्वादकारणिकेर्ष्यासंयुक्तः अर्बुदेशः—अर्बुददेशाधिपति.

प्रता०—प्रसन्नोऽस्मि त्वदीयेन एतत्कृत्येन, तत्तवैवाधिकारे तिष्ठतु।
(इति तालिका ददाति ।)

शक्ति०—किमतः परं युद्धाद्विराममभिलषन्ति महाराजाः।

प्रता०—असंभावितमेतत्—

यावन्म्लेच्छपतेः समिद्धमखिलं गर्वं न संचूर्णये
तापं चात्मकृतौ परं विदधतं सन्धौ न तं पातये।
मानस्याप्यभिमानमुन्नतमहं सर्वं न चोच्छेदये
तावद् युद्धसमुद्यमात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि नावर्तये ॥ ९ ॥

शक्ति०—युक्तम्, एवमेव युज्यते। अहं तु भवतामनुचर एव।
यावज्जीवं युद्धाय समुपस्थास्ये।

(तदनन्तरं स्वभटान्प्रतापसाहाय्यार्थं विमुच्य स्वयं तत्रैव दुर्गे समुपगच्छति शक्तिसिंहः।)

चारः (प्रविश्य) महाराज, वर्षाकालसमाप्त्यनन्तरं मानशाहबाजप्रभृतयो भवन्तं ग्रहीतुं महता बलेन सन्नह्य प्रचलिताः।

पटोत्क्षेपणम्।

(ततः प्रविशति कस्याञ्चिदरण्यान्यां प्रतापं मृगयमाणो इन्द्रपुराधिपतिः)

सामन्तः—(तत्र कञ्चन भटमवलोक्य, मनसि ।)

नूनमनेन प्रतापसैनिकेन भाव्यम्। को वाऽन्य एकाकी एवंभूतायामरण्यान्यां भ्रमितुं शक्नोति। अस्तु, तावदाभाषणेन प्रत्येमि। (स्फुटमवलोक्य) अहो अयं प्रतापसहा-

---

यावदिति। यावन्म्लेच्छपतेरकबरस्य समिद्धं वृद्धिं गतम् अखिलं गर्वं न संचूर्णये—नैव नाशयामि। आत्मनः कृतौ युद्धादिरूपे कार्ये परमत्यन्तं तापं—पश्चात्तापं विदधतं कुर्वन्तं सन्धौ न पातये—सन्ध्यर्थं नैव पातयामि च। तथा अहं समुन्नतं लोके विजयित्वेन प्रवृद्धं मानस्य—मानसिंहस्यापि सर्वमभिमानं न च उच्छेदये—समूलं नैवोच्छेदयामि, तावद् युद्धसमुद्यमाद् युद्धोद्योगात्स्वहृदयं स्वप्नेऽपि न आवर्तये—तावत् युद्धान्नैव विरतो भवामीत्यर्थः ॥ ९ ॥

यको रुद्रसिंहभटो ज्ञायते। (प्रकाशम्) भो रुद्रसिंह ! जयतु जयतु एकलिङ्गेश्वरः।

रुद्रसिंहः—अहो इन्द्रपुराधिपतिः सामन्तः। जयतु २ एकलिङ्गेश्वरः।

साम०—कुत इदानीं प्रयातोऽसि ?

रुद्र०—आगरानगरात्।

साम०—श्रूयते अकबरेण स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाय विपणिः कारिता।

रुद्र०—एवं कथय आर्यगौरवनाशाय व्यभिचारशिक्षणाय च विपणिः कारिता।

साम०—कथम् ?

रुद्र०—स चाकबरः स्वयं प्रच्छन्नवेषेण सानुचरो गत्वा आर्यमर्यादां नाशयति।

साम०—तर्हीदानीमार्यमर्यादा महानदतटीव संवृत्ता, ईश्वर एव तां रक्षतु।

रुद्र०—ईश्वरस्त्विदानीं पाश्चात्यदेशेषु परिभ्रमणार्थं गतः। अत आर्यमर्यादां मेवाडप्रदेशजाता एव रक्षन्तु।

साम०—प्रतापःक्वेदानीम्

रुद्र०—शृणु, संक्षेपेण कथयामि। यदा अकबरभटा गोगन्धपर्वतमवरुध्य स्थिता आसंस्तदा तत्र ससामन्तः प्रतापः किञ्चित्कालं युद्ध्वा कोमलमीरपर्वते अगच्छत्। इतो रात्रौ शिविनीसिंहः प्रतापसामन्तः स्वभटैः सार्द्धं तमस्येव सहस्रशो यवनभटांश्छिन्दन् सूर्यमण्डलनिर्गमनान्तरमेव तमपि विभिद्य परमं स्थानं गतः।

अथ प्रतापस्य विपत्तिं प्रदर्शयति—गरलमिति कृष्णचित्तः-कृष्णे चित्तं यस्य सः कृष्णाराधकः। यद्वा-कृष्णं पापाक्रान्तत्वात्कृष्णवर्णं चित्तं यस्य सः तथा। यवनपतेः सहायः-सहायभूतः, सेर्ष्यः-ईर्ष्यायुक्तः प्रतापस्य शिवोपासकत्वादकारणिकेर्ष्यासंयुक्तः अर्बुदेशः—अर्बुददेशाधिपतिः

साम०—तद् दुर्गमभेद्यमिति श्रुतम्, तत्कथं शुक्तम्?

रुद्र०—अभेद्यमिति मत्वा हताशाः सर्वे यवनसैनिका यदा परावर्तितुमुन्मुखा अभवंस्तदा अर्बुदेशो जलस्थानेषु विषप्रक्षेपणाय यवनसेनापतिं प्राबोधयत्, जलस्थानानि च व्यजिज्ञपत्। तद्विषेण शतशः संभावितयोद्धारो विनष्टाः। दूषितं पुत्रमित्रकलत्रभृत्यादिकं चावलोक्य साश्रुनयनः सोच्छ्वासं प्रतापोऽवदत्। हा दुर्दैव! किमिदं ते दुर्विलसितम्। कथमत्र दूषिताः स्थातुं शक्नुमः। हा एते सहस्रयोधिनो योद्धारो विषेण विनष्टाः, शात्रुम्बादयस्तु न शोच्या:, यद् वीराणां रणे मरणं प्राकृतिकमेव। एते मदर्थमकारणमेव विनष्टा इति बहुतरमशुचत्।

साम०—ततस्ततः—

रुद्र०—ततः किमन्यत्। तदेव जातं यद् दुर्दैवविलसितमासीत्।

> गरलममृतमध्ये कृष्णचित्तोऽर्बुदेशो
> यवनपतिसहायः क्षेपयामास सेर्ष्यः।
> नरपतिरथ हित्वा स्थानमेतत्प्रतापो
> विपदि पदमनैषीदात्मधैर्यं बुभुत्सुः॥ १०॥

साम०—ततस्ततः—

रुद्र०—ततः क्रमशो वनपर्वतकन्दरादुर्गाधित्यकोपत्यकादिषु यवनैरधिकृतेषु भिल्लभटसुरक्षितः कलत्रपुत्रकन्यकोपेत-

---

अमृतमध्ये जलमध्ये गरल-विषं क्षेपयामास। विरुद्धवस्तुनोः सङ्करः पापजनकः, तत्रापि अमृते विषप्रक्षेपस्तु महापापजनकः। अथ-गरलप्रक्षेपानन्तर.नरपतिः-प्रतापः, एतत्स्थान हित्वा-परित्यज्य आत्मधैर्यं बुभुत्सुः-स्वकीयधैर्यं ज्ञातुमिच्छुः, विपदि-विपत्तौ पदमनैषीत्। "विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा" इति प्राकृतिकस्यात्मधैर्यस्य परीक्षणाय विपत्तौ पदं निन्ये। अतः परं प्रतापोपरि विपत्तिरागच्छदिति भावः॥ १०॥

अन्दावदादिप्रधानभटैस्सहितः प्रतापो मृगवृकवराह-शार्दूलमर्कटशृगालखड्गमार्जारगवयशल्यसंकुलं भृङ्ग-तन्तुवायवृश्चिकभुजंगपिपीलिकाशतपदकर्णशलाकिकागौ-धेरदंशमधुमक्षिकाविषस्तूपिकादिव्याप्तं पीलुपलाशपिप्पल-प्लक्षपर्पटीप्रियालपट्टिपुष्पप्रियकपिच्छिलापूतिकपाटला-प्रियङ्गुपिचुमन्दसघनं काकोलूककपोतकुक्कुटचटकखञ्ज-रीटयककोकिलरथाङ्गकुररमयूरतित्तिरिचकोरवर्तकादिवि-विधपक्षिगणसंयुतं जावराप्रान्तीयपर्वतारण्यं प्रविवेश। प्रविशन्तं तं विहाय अहमकबरवृत्तपरिज्ञानाय आगरा-नगरं गतवानासम्।

सामं०—एहि। आवां गत्वा प्रतापमुद्बोधयिष्यावः।

(इति वदन्तौ वने प्रविष्टौ।)

पटोत्क्षेपणम्

(इतः स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थं भ्राम्यन् शिलातले निषण्णः प्रतापो विधेर्दुर्विलसितं पत्न्याः साहसवहिष्णुतादिगुणं पुत्रस्य सुतायाश्च कष्टं विचारयन् किमपि शोचते। तदन्तरा एव सुतायाः कुतोऽपि भयत्रासस्वरसमिश्रितं चीत्कारशब्दं शृणोति।)

मृगेति। अत्र मृगादयः, स्वच्छन्दगतेः परिमन्थिनः, सर्वेऽपि नामतः सुगमत्वान्न व्याख्यायन्ते। भृङ्गादयो यथास्थानस्थितावपि दर्शनादिना भयजनकाः। वृश्चिकसर्पादयो भूशयने दंशने दुःखजनकाः। प्राणघातकाश्च। पील्वादयः क्षुद्रफलजनकाः। पिचुमन्दो निम्बः। तथा काकोलूकादिदुष्टपक्षिगणसंयुतम्। आरण्यकः कुक्कुटो भक्ष्यः। तित्तिरिकपोतौ देशव्यवस्थया भक्ष्याभक्ष्यौ। अन्ये अभक्ष्याः। एतेन तस्यारण्यस्य शयनासनचंक्रमणादिप्रतिबन्धकत्वं भोजनानुपलब्धेश्च दुःखजनकत्वं सूच्यते। एवं महादुःखकारकेऽपि तस्मिन्नरण्ये प्रविवेश।

रे इति। रे नीच! अस्मत्सुतादुःखदायिन्! तिष्ठ, त्वां शमनस्य-यमराजस्य आलयं-गृहम् आनये। त्वां हत्वा यमगृहं प्रेषयामीत्यर्थः।

प्रतापः—(खड्गमाकृष्य धावति ।)

रे नीच ! तिष्ठ शमनालयमानये त्वां
क्वैष प्रयास्यसि दृशोर्विषयागतस्त्वम् ।
शक्रोऽपि रक्षितुमथ क्षमते न च त्वां
नैवासि चेच्छ्रुतिभवात्समयादवध्य. ॥ ११ ॥

(किंचिद् गत्वा आकृष्टखड्गस्तिष्ठन्विलोक्ते ।) आः! विडालोऽस्याः करपट्टिकामपाहरत् । ततोऽतिक्षुधिता रोदिति । (एतदवलोक्य प्रतापोऽपि दैवदुर्विलसितं निन्दन् ऊर्ध्वमुच्छ्वसन् ब्रवीति) हा दैव ! ब्राह्मणभक्तिपरायणस्य हीनदीनदुःखनिवारकस्य ममापि शिशव. क्षुधया रुदन्ति । हा भारतवसुंधरे ! सर्वतः सस्यसंपूरितायामपि त्वयि मदीयसुता अन्नेन विना खिद्यन्ते । किं करोमि, वृथैवाहम्वरोऽयम् । किं तावत्सन्धिमेवाभ्यर्थयेयम् (इति विमृशन्नुपविशति । अथ क्षुधार्ता सा बालिका पितुरुत्सङ्गे निपत्य 'पितः ! करपट्टिका मे देहि' इति कथयन्ती रोदिति । प्रतापोऽपि अधीर इव तिष्ठति ।)

एष त्व दृशो प्रत्यासत्त्या मम दृशोर्विषयागत , मम दृष्टिगोचरीभूतः सन् क्व प्रयास्यसि ? अथ मद्दृष्टिविषयागमनानन्तरं त्वां शक्रोऽपि-देवाधिदेवोऽपि रक्षितु न च क्षमते । च शब्द एवकारार्थः नैव समर्थो भवति अन्यस्य कथैव का, चेत्—यदि श्रुतिभवात्समयात् शास्त्रमर्यादोपगताद् व्यवहारादवध्यो नैवासि । अवध्यत्वे एव मुक्तो भविष्यसि नान्यथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

हा दैवेति । ब्राह्मणभक्तिपरायणस्य ब्राह्मणभक्तिसमुद्भूतज्ञाताज्ञातसकलपापविशुद्धिद्वारा दु.खशोकाद्यभाजनस्य, हीनदीनदुःखनिवारकस्य, यो हि हीनानां-दुर्बलानां दीनानां-भाजनवस्त्रपात्राद्यभावेन दुःखितानां दुःख निवारयति तस्येश्वरः स्वयमेव दु.ख निवारयतीति परमात्मना दु.ख निवारयितु योग्यस्य, ममापि पूर्वोक्तविशेषणद्वयविशिष्टस्य मम तु नैवैतद् दुःखस्थानं भवितुमुचितमिति भावः । शिशवः बालकाः क्षुधया

प्रतापः—(मनसि)

सालुम्बे निहतेऽप्यभिन्नहृदये मन्नासखे स्वर्गते
युद्धे चापि पराजये प्रतिदिनं भ्रान्तेऽद्रिकान्तारयोः ।
किं चान्यत्क्षुधितेऽप्यनेकदिवसं धैर्य्यं न यत्कम्पितं
खिन्ना स्वामबलां सुतां च रुदतीं दृष्ट्वाऽद्य तल्लीयते ॥१२॥

प्रकाशम्

भद्रे! मा रोदीः, आनयामि ते करपट्टिकाम् ।
(अथ सा बाला पितुरुत्सङ्गादुत्थाय मातुरङ्के निपत्य—) मातः! क्षुधिताऽस्मि देहि मे करपट्टिकामिति कथयन्ती (पुनरुच्चस्वरेण रोदिति।)

रुदन्ति । स्वल्पेनैव अन्नेन फलादिना वा येषां क्षुधा निवर्तते ते रुदन्ति एतेनेदानीं स्वल्पमप्यन्नं फलं वा नैवोपलभ्यते इति सर्वथा अन्नदौर्लभ्यं सूचितं भवति । विमृशन्निति । एतेन सन्धिकरणस्य अङ्कुरोद्भवः सूचितो भवति । सुतायाः क्षुधया तथाभूतनिपतनाद्यवलोक्य अधीर इव संजातः । एतेन सन्धिकरणविचारस्य पल्लवितत्वं सूच्यते ।

अथ मनसि यत्प्रतापो विचारयति तद्दर्शयति—सालुम्बे इति । सालुम्बाख्ये पितृस्थानीये धीरवीरसामन्ते निहतेऽपि—समरे मृतेऽपि । अभिन्नहृदये—अपृथग्भूतमनस्के मन्नासखे—मन्नाभिधनामकमित्रे स्वर्गते तस्मिन्नपि मृते इत्यर्थः । युद्धे—संग्रामे पराजये चापि, प्रतिदिनम्—दिनं दिनं प्रति इति प्रतिदिनं प्रत्येकदिनमित्यर्थः । अद्रिकान्तारयोः पर्वतारण्ययोर्मध्ये भ्रान्ते स्थानात्स्थानान्तरं गमने कृते सति, किञ्चान्यत् अन्यत्किमधिकं कथयेयम्, अनेकदिवसं-नैरन्तर्येण अनेकदिवसपर्यन्तम् । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । क्षुधितेऽपि क्षुधया पीडितेऽपि मयि । यद् धैर्यं न कम्पितम्-अणुमात्रमपि न चलितम्, किन्तु पर्वतवत्स्थिरमासीत् तद् धैर्यम् अद्य खिन्ना—खेदयुक्तां, स्वां—स्वकीयामबलां स्त्रियं रुदतीं सुता कन्यका च दृष्ट्वा लीयते—सर्वथा विनश्यति । तथाभूतदशायां यदणुमात्रमपि न कम्पितं तदेव सर्वथा इदानीं विनश्यतीति पूर्वदुःखापेक्षया इदानींतनदुःखस्याधिकतरत्वं सूचितं भवति ॥ १२ ॥

प्रतापपत्नी—कन्यके ! मा रोदीः । दास्यामि ते करपट्टिकाम् ।
(इति कथयन्ती परिलालयति)

रुद्रः—(तामवलोकयन् । मनसि)

स्वाङ्के निधाय रुदतीं परिलालयन्तीं
दृष्ट्वाऽथ रोदिति स रोदयते च सर्वान् ।
वृक्षा विहङ्गमगणाः पशवो विलोक्य
क्रीडां विहाय विलपन्ति वनोद्भवाश्च ॥१३॥

(पुनः प्रकाशम्)—आः पश्य । अस्य दुःखसहानुभूत्या एते उद्भिजतिर्यगादयो वनदेवताश्च विलपन्ति ।

(प्रतापः—किञ्चिद्धैर्यमवलम्ब्य) मनसि

मिथ्याभिमानविधिना समुपार्जितं किम्
कान्तारदुःखसहनेन समागतं किम् ।

प्रतापः उच्चस्वरेण रुदत्याः कन्यकायाः परिलालनं कुर्वतीं स्त्रियमवलोक्य यत्करोति तद्दर्शयति—स्वाङ्क इति । रुदतीं पूर्वप्रकरणतः प्राप्तां कन्यकां स्वाङ्के-स्वकीयोत्सङ्गे निधाय-स्थापयित्वा परिलालयन्तीं-विविधप्रलोभनादिना प्रसादयन्तीं स्वस्त्रियं दृष्ट्वा प्रतापः रोदिति । अथ रोदनसमनन्तरमेव सः प्रतापः सर्वान् तत्रस्थितान्स्वकीयसहायकभिल्लादीन् रोदयते च । एतेन सन्धिकरणसमये सर्वेषां दुःखोद्रेकात्प्रतिपन्थ्यभावः सूचितो भवति । अथ तत्रत्योद्भिज्जतिर्यगादीनां कृत्यमाह—वृक्षाः स्थावरा उद्भिजादयः, विहङ्गमगणाः अण्डजाः पक्षिसमूहाः, पशवो हरिणादयः विलोक्य विलपन्ति—ततोऽप्यधिकतरं रुदन्ति । क्रीडां विहाय—स्वानन्ददायिकां क्रीडां परित्यज्य वनोद्भवाः—वनजाता ऋष्यादयो वनदेवता वा विलपन्ति—सातिशयं रुदन्ति ॥ १३ ॥

प्रतापः किञ्चिद्धैर्यमवलम्ब्य विचारयति—मिथ्येति । मिथ्या योऽभिमानविधिस्तेन, व्यर्थमेवाहंकारकरणेन किं समुपार्जितम्—किमर्जितम् । न किमपीत्यर्थः, व्यर्थमेवाभिमानविधानं मे जातम् । तथा कान्तारे-महारण्ये दुर्गमे वर्त्मनि वा दुःखसहनेन किं समागतम् किमुपलब्धम् । न किम-

तावन्तमद्य विपिने स्वकुटुम्बवर्गं
शक्तो न रक्षितुमतश्च करोमि सन्धिम् ॥१४॥

(इति विमृश्य कन्यकामवलोक्य ।) प्रकाशम्
कन्यके ! मा रोदीः,
आनयामि ते करपट्टिकाम् । नातः परं ते दुःखं भविष्यति ।
(इत्युक्त्वा मसीं पत्रं चानाय्य सन्धिपत्रं लिखति । लिखित्वा स्वयं वाचयति ।)

दुःखादुद्विग्नचेताः क्षुधितनिजसुतां क्षीणकायं कलत्रं
दृष्ट्वोद्भ्रान्तः स्वरक्षाविधिमखिलमयं नैव कर्तुं समर्थः ।
तस्माद् युद्धाद्विरक्तः शमय रणकथां ज्ञायतां वृत्तमेतत्
सांगापौत्रः प्रतापो यवनपतिपदे याचते सन्धिचर्याम् ॥१५॥

पीत्ययं तदपि व्यर्थमेव जातम् । अद्य विपिने-अरण्ये तावन्तं दुःखमनुभवन्तं स्वकुटुम्बवर्गं-पुत्रकलत्रादिकं रक्षितुं-पालयितुं न शक्तः न समर्थोऽस्मि । अतश्च-अस्माच्च कारणात्, पूर्वोक्तकारणद्वयादनेन तृतीयेन च कारणेन सन्धिं करोमि । अद्यैव अकबरेण सह सन्धिं करिष्यामि । वर्तमानसामीप्याद्भविष्यदर्थे लट् ॥ १४ ॥

अथ प्रतापः सन्धिपत्रं लिखित्वा वाचयति । दुःखादिति । दुःखाद् वनाद् वनान्तरे भ्रमणादिना उद्विग्नं चित्तं यस्य सः तथा,एतेन संधिपत्रस्याप्रामण्यं सूचितं भवति । उद्विग्नचेतसा क्रियमाणं कार्यमप्रामाणिकं भवतीति सिद्धान्तात् । तथा क्षुधिता-बुभुक्षिता चासौ निजसुता-आत्मदुहिता तां, क्षीणः कायो यस्य तत्कलत्रं स्त्रियं दृष्ट्वा उद्भ्रान्तश्च कर्तव्याकर्तव्यज्ञानशून्यः अकर्तव्येऽपि कर्तव्यतामापन्न इत्यर्थः । एतेनापि संधेरप्रामण्यं सूचितं भवति । उद्भ्रान्तावस्थायां क्रियमाणं कार्यं न प्रमाणं भवतीति नियमात् । एवं च उद्भ्रान्तोऽयं प्रतापः अखिलं-पूर्णरूपेण रक्षाविधिं कर्तुं नैव समर्थः, पुत्रकलत्रादीनामात्मनश्च रक्षां कर्तुं नैव समर्थ इत्यर्थः । यद्वा स्वेषां सर्वेषामात्मीयानाम् आर्याणाम् अखिलं पूर्णरूपेण यथा स्यात्तथा रक्षाविधि-समस्तभारतस्य रक्षाविधिं कर्तुं नैव समर्थः कष्टबाहुल्यात् अतिदुःखेन प्राप्यमाणे वस्तुनि वैराग्याच्चेदानी-

(इति वाचयित्वा गुहाय पत्रं ददाति । स पत्रं गृहीत्वा निष्क्रान्तः)

पटीक्षेपणम्

(प्रतापानुचरो गुहः पत्रं गृहीत्वा राजसभायां दौवारिकेण सह प्रविश्य अकबरहस्ते पत्रं समर्पयति । अकबरश्च वाचयित्वा सर्वान् श्रावयति ।)

अकबरः —मृदंगपटहशुषिरमर्दलवल्लकीवादिश्रातोद्यसंमिश्रिततत-वितततन्त्रीत्तलतालत्रुटितम् ऋषभगान्धारधैवतषड्-

---

मुरसाहाभावान्न समर्थोऽस्मीति भावः । तस्मात्कारणाद् युद्धाद्विरक्तोऽस्मि । यद्वा–त्वं युद्धाद्विरक्तः सन् रणकथां–संग्रामवार्तां शमय । भवद्भिरेतद् वृत्तं श्रायताम् । साँगापौत्रः साँगेति स्वनामप्रसिद्धो वीरः,येन श्रामरणं स्वातन्त्र्यं विहाय त्वत्पूर्वजैः सह सन्धिप्रार्थनं न कृतं, तस्य पौत्रः प्रतापः, एतेन त्वत्पूर्वजैरनिष्पादितं कार्य्यं त्वया निष्पादितं भविष्यतीति सन्धेर्महत्त्व सूचितं भवति । यवनपतिपदे आदरसूचनार्थमन्ते 'पद' पदप्रयोगः । अकबरादिति पञ्चम्यर्थे 'अकथितं च' इति द्वितीया । सन्धिचर्चा–सन्धि-विषयकविचारं याचते । यद्वा–यवनपतेर्यत्पदं स्थानं तद्विषये । आगरा-पत्तनपर्यन्तं यदि मह्यं राज्यं दद्यास्तदा नाहमुपद्रोष्यामि । यद्वा–हे यवन ! पतिपदे स्वतन्त्रतया अस्मत्स्वामित्वस्वीकारेण मयि राजपदप्रयोगे अहं स्वतन्त्र एव राजा इति भवतः स्वीकृतौ सन्धिचर्चां याचते । यदि मां स्वतन्त्रं राजानं स्वीकरोषि तदा नाहं त्वद्राज्ये आक्रमिष्यामीति भावः । यद्वा–हे यवन ! पतिपदे–स्वामित्वविषयकस्थाने, कियत्पर्यन्तं ते आधि-पत्यं कियत्पर्यन्तं च मे आधिपत्यमिति सीमानिर्धारणे इत्यर्थः, सन्धि-चर्चां याचते ॥ १५ ॥

मायिकमिति । मायया कपटेन निर्मितम् । क्षणिकसंतोषार्थ-मिति । यावत्पर्यन्तं वास्तविकतया वस्तुस्थितेः परिज्ञानं न भवति तावत्प-र्यन्तमेव संतोषार्थम् । प्रतापः सन्धिं प्रार्थयते इति कृत्वा तव प्रसादार्थं केनापि अनिर्दिष्टनाम्ना तद्वैरिणा यतस्तस्याकीर्तिः स्यात्प्रतापः पराजितः प्रतापोऽपि मानसिंहादिवदधीनतां स्वीकरोतीत्ययशःप्रस्ताराय रचितम् ।

जादिशब्दसंपूरितं ध्रुपददीपकमलारभैरवभैरवीप्राभातिकाशावरीवरवादिविविधरागसंमिश्रितं गानं मेवाडविजयमहोत्सवे श्राचर्यताम्। (इत्याज्ञापयति।)

(अत्रान्तरे प्रताप्रपत्त्रगतो पृथ्वीसिंहो महोत्सवान्तरायभूतः समुपतिष्ठते।)

पृथ्वी०—महाराज! कस्यायं महोत्सवः?

अक०—(पत्रं दत्त्वा पृथ्वीसिंहेन वाचयति।)

पृथ्वी०—मायिकमेतत्। भवतः क्षणिकसंतोषार्थं तद्वैरिणा केनापि रचितम्।

अक०—तर्हि पुनः पत्रं लिखित्वा प्रत्येतु भवान्, तदनुचरश्च तावदारक्षकरक्षितस्तिष्ठतु।

पृथ्वी०—एवं भवतु को दोषः (इति तथा करोति।) (श्लेषेण तमुद्बोधयन्नत्र लिखति।)

आश्लेषपूर्वं वदतोऽपि चित्तं न निर्णयं मे समुपैति कश्चित्।
सन्धौ विरुद्धस्य दलं नु किंवा तवेति नो वाक्यमथोत्तरेस्त्वम् ॥१६॥

श्लेषेण इति। भङ्गश्लेषेणेत्यर्थः। अभङ्गश्लेषेणोच्यमानं स्फटिकस्येव बुद्धौ प्रतिभासते। तं प्रकारम्। किं लिखतीति दर्शयति—

अथ स्वाभिप्रायं सूचयन् स्फुटं सन्धिनिषेधाय प्रेरयति—आश्लेषेति। आश्लेषः-आलिङ्गनं तदेव पूर्वं यत्र। आलिङ्गनपूर्वं यथा स्यात्तथा, अन्यत्र भङ्गश्लेषपूर्वं वदतः-कथयतोऽपि मे-मम चित्तं कश्चिन्निर्णयं न समुपैति। किञ्चिदपि न निश्चिनोतीत्यर्थः। अथ पदद्वयं दर्शयति—सन्धौ-सन्धिविषये विरुद्धस्य कस्यचिच्च विरोधिनो दलं-पत्रं नु। नु इति वितर्के। केनचिच्च वैरिणा स्वनाम्ना मायया निर्मितं किम्? किं वा अथवा तव इति नः अस्माकं वाक्यम्। अथ त्वम् उत्तरेः। निषेधप्रेरणार्थे। सन्धौ विरुद्धस्य दलं नु किं वा तव, इति प्रश्नः। अथ सन्देहदशायां त्वं नो नैव इति वाक्यमुत्तरेः। ममैतत्पत्रं नैवास्तीति त्वमुत्तरयेति भावः॥ १६॥

सन्धावपूर्वत्रिदशानुभूतिः कान्तो यशोऽङ्गे कमलानुगन्धः ।
अमध्यमं भास्करमेव मत्वा द्रक्ष्यन्ति लोकाश्च सविस्मयं त्वाम् ॥१७॥
किं किर्मीरचरित्रचित्रितविधिं नौरोजमालोकितुं
चेतो धावति तेऽपि चिन्तितपदस्थाने प्रतिष्ठास्थितेः ।

सन्धाविति । सन्धौ-अकबरेण सह सन्धिकरणे अपूर्वा-पूर्वमननुभूता त्रिदशाना-देवसुखानामनुभूतिः । यद्वा-अपूर्वा त्रिदशाना-तिस्रो दशा येषा ते त्रिदशा देवास्तेषामनुभूतिरनुभवः, देवादीनामिव सर्वदा सुखमेव भविष्यतीत्यर्थः । पक्षे-अपूर्वः, नास्ति पूर्वो वर्णो यत्रेति अपूर्वः एवभूतो यस्त्रिदशाशब्दः, त्रिदशाशब्दे पूर्ववर्णस्य 'त्रि' इत्यस्याभावे दशा इत्येव शिष्यते । ततश्च दशायाः अशुभग्रहादिदशाया अनुभूतिरनुभवा भविष्यति । दशाशब्दोऽशुभदशाया रूढः । तथा कान्तो-मनोहरो यशोऽङ्गे-ते यशोऽवयवे कमलाना कमलपुष्पाणामनुगन्धः, सन्धिकरणानन्तर कमलपुष्पाणा सुगन्धिरिव ते यशोऽवयवे सुगन्धिर्भविष्यति । तव यशसः प्रसिद्धिः प्रतिष्ठा च भविष्यति । पक्षे—कान्तः कस्य—क इत्यक्षरस्य अन्तो—नाशो यत्रेति । कमलानुगन्धः इत्यत्र ककारस्याभावे मलानुगन्ध इत्यवशिष्यते । ततश्च ते यशोऽङ्गे मलानुगन्धः-मलस्य अनुगन्धो भविष्यति । क्षत्रियाणामुपाद्विषये यशसः शोभनत्वेऽपि सन्धयो कातरतासूचनात् यशसः एकदेशो मलानुगन्धो जायमान. सर्वमपि ते यशो दूषयिष्यतीति भावः । तथा लोकाः अमध्यम मध्यकालानवस्थितम् । मध्यकालिकसूर्यस्य दर्शनायोगात् प्राभातिक भास्करमेव साक्षात्सूर्यमेव मत्वा तेजःप्रभावातिशययुक्तत्वात्सूर्य एवायमिति मत्वा सविस्मय साश्चर्यं यथा स्यात्तथा त्वा द्रक्ष्यन्ति अवलोकयिष्यन्ते । पक्षे 'अमध्यमम्' नास्ति मध्यमो मध्ये जायमानो वर्णो यत्रेति अमध्यमम् । मध्यवर्णरहित भास्करम् भास्करमिह मध्यवर्णस्याभावे भारमित्यवशिष्यते । ततश्च भारमेव मत्वा "त्व पृथिव्या भार एव सजातो यवनस्याधीनतास्वीकारादित्यादि मत्वा" लोकास्त्वा सविस्मय साश्चर्यम् । कथमयं सागापौत्रः प्रभावशाली वीर॰ कातर॰ संजात इत्यतर्कितत्वात्सविस्मय द्रक्ष्यन्ति ॥ १७ ॥

पृच्छामः किमु गौरवं तव कुतो किंचिद्वहाम स्वके
स्वान्ते वा ऽथवाऽवनम्रशिरसस्तिष्ठाम संसद्गताः॥१८॥

लीलासंमीलितेन्दुं तुहिनहिमगिरिक्षीरताराब्जकान्त—
ज्योत्स्नानागेन्द्रशङ्खार्जुनकुसुमसुधाजाह्नवीनिह्नवानाम् ।

तव पत्रं नैवास्तीति त्वद्गौरवाभ्मयोक्तमिति सूचयन्नभिधत्स्वीकारे इहागमने पापोपार्जनमप्रतिष्ठा चेति व्यञ्जयश्लेषाभ्यां सूचयति—किं किर्मीरेति । किर्मीरं-भोगविलासपारमिश्रितत्वात्कर्बुरं यच्चरित्रं तेन चित्रिता-विचित्रवर्णापितो विधिर्विधानं यस्य यस्मिन्वा तम्, नौरोजं-नौरोजनामकं विपणि 'मीनाबाजार' इति लोके । नौरोज इति डित्थकपित्थादिवद् रूढिशब्दः । आलोकितुं-द्रष्टुं चिन्तितपदस्थाने-अभिमतपदस्थाने प्रतिष्ठया-संमानेन स्थितिर्यस्य स तस्य । पक्षे-चिन्ता संजाता यस्मिन्निति चिन्तितं, तच्च तत्पदं चिन्तितपदम्, तस्य स्थाने । चिन्तायुक्ताधिकारस्थाने अप्रतिष्ठया स्थितिर्यस्य स तस्य । अप्रतिष्ठापूर्वकं विद्यमानस्य तेऽपि तवापि एवंदशामागन्तुमित्यर्थः, तत्र चेतः धावति । इह सर्वेऽपि अप्रतिष्ठयैव स्थिता इति तवागमने त्वमप्यप्रतिष्ठया स्थास्यसीति व्यज्यते । वयं पृच्छामः । तव कुतो प्रतापः स्वाभिमानो वीरो नायं धन्धि प्रार्थयते इति तत्र कार्यं स्वके स्वान्ते आत्मचित्ते किंचिद्गौरवं वहाम धारयाम किमु । वा-अथवा संसद्गताः-अकबरपरिषदि प्राप्ताः अथवा-ऽथवा, अवनम्राणि-किंचिन्नम्रीभूतानि, शिरांसि मस्तकानि येषां ते तथाभूतास्सन्तस्तिष्ठाम । यथा अन्यया ज्ञातं न तथाभूतो वीरः प्रताप इति स्वपक्षपराजयाल्लज्जयाऽवनतमस्तकास्तिष्ठाम । संप्रश्ने लोट् ॥ १८ ॥

पुनस्तस्य कीर्तिप्रलोभनेन श्लेषेण सन्धिं निषेधयति— लीलेति । *लीलया-अनायासेन संमीलितः-आच्छादितः इन्दुश्चन्द्रो यया* ताम् । यदीयधवलिम्ना सर्वमेव धवलं जातमिति चन्द्रो नावगम्यते । तथा तुहिनं तुषारः, हिमगिरिः-हिमाचलः, क्षीरं-दुग्धं, ताराः-नक्षत्राणि, अब्जकान्तः-शुभ्रवर्णो मणिः, ज्योत्स्ना-चन्द्रिका, नागेन्द्रः-शेषः

ऊर्ध्वाधोमध्यभागे निखिलबुधजनैः स्तूयमानां स्वकीर्तिं
हित्वा किं विग्रहार्थं त्रिदशसुखमनादृत्य यास्यात्मनाशम्॥१९॥

(इति पत्रं लिखित्वा सर्वान्श्रावयति । सर्वसमक्षं सन्धिसमर्थकमर्थं विधाय विश्वस्तेन स्वकीयानुचरेण राजचारैस्सह प्रतापसमीपं प्रेषयति। ततो निष्क्रमितुं परिक्रामन्ति सर्वे ।)

पटोन्नयनम्

(इतश्चोद्विग्नः शिलातले निषण्णः प्रतापश्चन्दावदिन्दोर-(इन्द्रपुर-) सामन्तसमन्वितश्चिन्तयति ।)

प्रता०—अहो क्षणिकसुखलिप्सया मया महदनुचितमाचरितम् ।
सन्धिप्रार्थनया सर्वं नाशितं सुमहद् यशः ।
आः ! स्वहस्तेन पदयोः पातिता दास्यशृङ्खला ॥ २० ॥

ऐरावतो वा । शङ्खः प्रसिद्धः, अर्जुनः-अर्जुनवृक्षः, स च कविसमये शुभ्रवर्णतया प्रसिद्धः, कुसुमानि-पुष्पाणि, एतानि कविसमये शुभ्रवर्णान्येव । सुधा-शुभ्रवर्णं लेपनद्रव्यम्, अमृतं वा । जाह्नवी-गङ्गा, एतेषां द्वन्द्वे द्वितीयाबहुत्वे । ताः निह्नुवानामपनयन्तीम्, ऊर्ध्वाधोमध्यभागे त्रिभुवने, निखिलाः-समस्ता ये बुधजनाः-विद्वज्जनास्तैः स्तूयमानां स्वकीर्तिं हित्वा-परित्यज्य त्रिदशसुखमनादृत्य देवसुखं परिभूय विग्रहार्थं-विग्रहाय आत्मनाशं किं यासि किमर्थमात्मानं नाशयसि । तस्माद्विरोधो नैव कर्तव्यः, विरोधकरणे तव नाशो भविष्यतीति भावः । पक्षे विग्रहार्थं-शरीरार्थं क्षणभङ्गुरशरीरसुखार्थमात्मनाशं किं यासि, शरीररक्षार्थं क्रियमाणे सन्धौ पूर्वोक्तगुणविशिष्टायास्तव कीर्तेः नाशो भविष्यति, कीर्तिनाशे आत्मनाशः स्वत एव सिध्यति । संग्रामे स्वर्गमासेस्त्रिदशसुखप्राप्तिर्भविष्यति । 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' इति संग्रामे मृतस्य स्वर्गप्राप्तिर्भवतीति भगवता गीतायामुक्तम् ॥ १९ ॥

अथ स्वयमुद्बुद्धः प्रतापः सन्धिप्रार्थनमनुचितं मन्यमानः कथयति—सन्धीति । मया सन्धेः प्रार्थना तया सन्धिप्रार्थनया सर्वमशेषं सुमहत् शोभनं-विपुलं यशः नाशितम्, सुमहदित्यसमस्तमेव । 'आः इति

(इति सोद्वेगमुच्छ्वसिति)

चन्दावत्—महाराज! कुतोऽयमुद्वेगः, प्रतीत्तस्त्र तावत्किमयं सन्धौ कथयति।

प्रता०—ममाभिमतानुरूपसन्धिस्वीकारेऽपि महदेव कष्टम्।

सन्धौ समेतं नतकन्धराङ्गं
निरुद्धवीर्याहिमिवोच्छ्वसन्तम्।
विलोक्य मां मानसमानभावाः
समागताः स्मेरमुखा भवेयुः॥ २१॥

एतदनादरसहनान्मरणमेव श्रेयः (इति महतो दुःखात्पुनरुच्छ्वसिति)

इन्दोरसामन्तः—महाराज! अलमुद्वेगेन।

महाखेदे। महादुःखम् स्वहस्तेन पदयोरात्मनः पदयोर्मध्ये दास्यशृङ्खला-शासतायाः शृङ्खला पातिता॥ २०॥

स्वाभिमतसन्धिस्वीकारेऽपि कष्टमेवेति दर्शयति—सन्धाविति। सन्धौ-सन्धिविषये, समेतं-प्राप्तम्-अकबरपरिषदि यातम्। अत एव नतं-नम्रीभूतं कन्धराङ्गं यस्य स तम्। सन्धिप्रार्थनया सन्धिकरणार्थं गतमिति लज्जावनतमुखम्। अत्यधिकनम्रतायां कन्धरप्रदेशादवनतं भवति। निरुद्धं वीर्यं पराक्रमो यस्य सः, तथाभूतश्चासौ अहिः-सर्पस्तमिव उच्छ्वसन्तम्, रुद्धपराक्रमसर्पवद्दीर्घोच्छ्वासं कुर्वन्तं मां विलोक्य-दृष्ट्वा समागताः-समायां प्राप्ताः, मानेन-मानसिंहेन समानो भावो येषां ते तथा मानसिंहवन्मम परिपन्थिनः, अथवा-मानसे-मनसि मानभावो येषां ते तथा। येषां हृदये मम संमानमस्ति। अथवा माने-मानविषये समानभावो येषां ते। यथा वयमपमानितास्तिष्ठामस्तथा अयमपि मम समान एव जात इति मानसमानभावाः स्मेरमुखाः-स्मेरमोपहास्ययुक्तं मुखं येषां ते तथाभूता भवेयुः-भविष्यन्ति। संभावनायां लिङ्॥ २१॥

इन्दोरसामन्तः प्रतापस्योद्वेगं परिहरन्सूचयति—यावदिति। भीम भुजैः अतिशयितबलयुक्तत्वाद्भयावहैः भुजैर्बाहुभिर्विमर्दिता-वित्रासिताः

यावद्भीमभुजातिमर्दितगजाः संग्रामनिष्णातकाः
हस्तोद्धृतनिशातखड्गनिहतत्वद्वैरिवीरव्रजाः ।
जीवामो वयमत्र सन्धिकरणं तावन्न ते शोभनं
सन्ध्यर्थं निपतिष्यति स्वयमसौ म्लेच्छाधिपस्त्वत्पदे ॥२२॥

प्रता०—कुतोऽस्यावसरः ? मया च सन्धिप्रार्थनं कृतमेव ।

चन्दा०—महाराज ! अलं विचारेण ।
क्षणेनैव विधास्यामः सन्धेः सोपधिदूषणम् ।
रक्षणारक्षणे तस्य त्वदधीने च केवलम् ॥ २३ ॥
(अत्रान्तरे समुपतिष्ठते मिल्लराजो गुहः ।)

प्रता०—किमस्ति ।

गुहः—आगराणयरओ पत्तं गहिऊण बीकाणयरजुवराअस्स
आगरानगरात् पत्रं गृहीत्वा बीकानगरयुवराजस्य

गजा हस्तिनो यैस्ते तथा, हस्तिनामपि विनाशकाः । तथा संग्रामे निष्णातकाः सदैव संग्रामतत्पराः । तथा हस्तैः उद्धृता ऊर्ध्वमुत्थाप्य कम्पिता ये निशातखड्गास्तीक्ष्णकरवालास्तैर्निहता विनाशितास्त्वद्वैरिवीराणां व्रजाः—समूहा यैस्ते । एवंभूता वयमस्मदादयो यावज्जीवामस्तावत्पर्यन्तमत्र अकबरे अस्मिन्परतन्त्रताविषये वा ते—तव सन्धिकरणं शोभनं न, त्वया सन्धिर्नैव कर्तव्य इति भावः । असौ म्लेच्छाधिपः—म्लेच्छराजः स्वयं सन्ध्यर्थं—सन्धिकरणार्थं त्वत्पदे निपतिष्यति । यद्यमात्यमकबरस्य सन्धिप्रार्थनं बीजरूपेण उपक्षिप्यते इति भावः ॥ २२ ॥

अथ चन्दावन्मन्त्री सन्धिप्रार्थनया उद्विजमानं प्रतापं कथयति—क्षणेनेति । वयं सन्धेः सोपधिदूषणम्, इदं त्वयानुचितमाचरितमित्यादिदोषारोपेण सन्धिच्छेदं क्षणेनैव—अतिस्वल्पेन कालेन विधास्यामः—संपादयिष्यामः । तस्य सन्धेः रक्षणमरक्षणं च केवलं त्वदधीने—त्वदायत्ते एव । यदि भवानिच्छेत्तदा सन्धेः रक्षा भविष्यति । यदि भवान्नेच्छेत्तदा सन्धिस्त्रुटितो भविष्यति । तस्मात्सन्धिकरणेऽपि न किञ्चित्ते हतं भविष्यतीति भावः ॥ २३ ॥

पुढवीसीहस्स अणुअरो आगओ । अम्हो तं पव्वयप्पंते
पृथ्वीसिंहस्य अनुचर आगत । अह त पर्वतप्रान्ते
ठावइऊण तुम्हाण समीवम्मि पत्तो ।
स्थापयित्वा युष्माकं समीपे प्राप्तः ।

प्रता०—तं प्रवेशय ।

(ततः प्रविशति गुहेन सह पृथ्वीसिंहानुचरः ।)

अनुचरः—जेदु जेदु महाराओ ।
जयतु जयतु महाराज. । (इत्युक्त्वा पत्र समर्पयति ।)

(प्रताप पत्र गृहीत्वा स्वय वाचयति सर्वान् श्रावयति च ।)

प्रता०—अस्मदीयं सन्धिपत्रमिति संदिग्धमेव ।

इन्दोरसा०—अथ किम् ।

चन्दा०—इदमतिशोभन जातम् ।

प्रता०—(पृथ्वीसिंहस्य पत्रोत्तर लिखित्वा सर्वान् श्रावयति ।)
युक्तमुट्टङ्कितं काले प्रेम्णा साधु त्वयोदितम् ।
अवेहि पत्रोत्तरणे क्रियां केवलमुत्तरम् २४ ॥

सर्वे—साधु साधु ।

(तत पत्रोत्तर गृहीत्वा निष्क्रामति पृथ्वीसिंहस्यानुचर. ।)

प्रता०—(इन्दोरसामन्त गुह चाभिलक्ष्य आज्ञापयति ।)

अथ प्रतापः पृथ्वीसिंहाय पत्रोत्तर लिखित्वा चन्दावतादीन् श्रावयति । क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम् इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । युक्तमिति । काले समुचितावसरे तत्र अकबरसभायां, सन्धिसमुखस्य मम सन्धिकरणवेलाया वा युक्तमुचितमुट्टङ्कितम् । अकबरसभायामस्मत्कृतसन्धिखण्डने मम प्रतिबोधने वा साधु कथितम् । त्वं पत्रोत्तरणे स्वकीयपत्रोत्तरविषये केवल क्रियामस्मद्व्यापारम् उत्तरमवेहि जानीहि । यो हि मम व्यापारो भविष्यति स एव सन्धिप्रार्थनाप्रार्थनयोरुत्तरं भविष्यतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथ प्रतापः अकबरप्रजाया लुण्ठनाय आज्ञापयन्नुपवदति—

विप्रस्वं यज्ञकार्योद्धृतमथ गणिकां हीनदीनां च नारीं
बालां सीमन्तिनीं वा पतितमपि महारुग्णमन्धं क्षुधार्तम्।
मूर्छालं चाप्यवीरां शरणगतमथो सर्वथैतानि हित्वा
ज्ञात्वा शत्रोः प्रजानां सकलमपि धनं सर्वथा लुण्ठयध्वम्॥२५॥

(ततः सर्वे उत्तिष्ठन्ति। चन्दावतसहितः प्रतापः परिक्रामन् वने प्रविशति। अन्ये निर्गच्छन्ति।)

पटोक्षयनम्।

(एवमाज्ञापितास्ते पुर्तगालदेशाधिपतिना अकबराय प्रेषितान्युपायनानि गुर्जरमार्गे लुण्ठयन्ति। पुर्तगालाधिपतिं गृहीत्वा कथयन्ति।)

इन्दोरसा०—रे पौर्तगालीय! कस्मादिदमानीतम्? केन कस्मै च प्रेषितम्?

विप्रस्वमिति। तत्र परिगणयति-विप्रस्य-ब्राह्मणस्य स्वं-धनम्, अकबरप्रजाया अपि ब्राह्मणस्य धनं,तथा यज्ञकार्योद्धृतम्-अनेन द्रव्येण यज्ञकार्यं भविष्यतीति बुद्ध्या निष्काशितं यद् द्रव्यम् ,अश्वघासादिवत्षष्ठीतत्पुरुषः। तथा गणिकां वेश्यां, वेश्याया धनमग्राह्यमिति स्मृत्यादौ प्रतिषेधात्। तथा हीनां-हीनजात्युद्भवां, दीनां-दुःखितां च नारीं स्त्रियम्। एतेन हीनजात्युद्भवाया एव दीनस्त्रियाः प्रतिषेधो नत्वन्यासाम्। तथा पतितमपिजातिबहिष्कृतम्, महारुग्णं-कुष्ठादिमहारोगाक्रान्तम्, तथा अन्धदृष्टिरहितम्। क्षुधार्तं-क्षुधापीडितं क्षुधानिवर्तकमात्रद्रव्योपेतम्। मूर्छालं-मूर्छोपेतम्-तथा अवीरां-पतिपुत्ररहिताम्,'अवीरा निष्पतिसुता'

अथ प्रताप अकबरप्रजाया लुण्ठनाय आज्ञापयन्नपवदति—

विप्रस्व यज्ञकार्योद्धृतमथ गणिका हीनदीनां च नारीं
बालां सीमन्तिनीं वा पतितमपि महारुग्णमन्ध क्षुधार्तम्।
मूर्च्छाल चाप्यवीरां शरणगतमथो सर्वथैतानि हित्वा
ज्ञात्वा शत्रो॰ प्रजानां सकलमपि धन सर्वथा लुण्ठयध्वम्॥२५॥

(तत सर्वे उत्तिष्ठन्ति। चन्दावत्सहित प्रताप परिक्रामन् वने प्रविशति। अन्ये निर्गच्छन्ति।)

पटोत्क्षयनम्।

(एवमाज्ञापितास्ते पुर्तगालदेशाधिपतिना अकबराय प्रेषिता-युपायनानि गुर्जरमार्गे लुण्ठयन्ति। पुतगालाधिपतिं गृहीत्वा कथयन्ति।)

इन्द्रोरसा॰—रे पौर्तगालीय! कस्मादिदमानीतम्? केन कस्मै च प्रेषितम्?

विप्रस्वमिति। तत्र परिगणयति विप्रस्व ब्राह्मणस्य स्व-धनम्, अकबर-प्रजाया अपि ब्राह्मणस्य धन,तथा यज्ञकार्योद्धृतम् अनेन द्रव्येण यज्ञकार्य भविष्यतीति बुद्धया निष्काशित यद् द्रव्यम् ,अश्वघासादिव पृथ्वीतत्पुरुष। तथा गणिका वेश्या, वेश्याया धनमग्राह्यमिति स्मृत्यादौ प्रतिषेधात्। तथा हीना-हीनजात्युद्भवां, दीना-दु खिता च नारीं स्त्रियम्। एतेन हीनजात्युद्भवाया एव दीनस्त्रिया प्रतिषेधो नत्वन्यासाम्। तथा पतित-मपिजातिबहिष्कृतम्, महारुग्ण-कुष्ठादिमहारोगाक्रान्तम्, तथा अन्ध-दृष्टिरहितम्। क्षुधार्त-क्षुधापीडित क्षुधानिवर्तकमात्रद्रव्यापेतम्। मूर्च्छाल-मूर्छापितम्-तथा अवीरा-पतिपुत्ररहिताम्,'अवीरा निष्पतिसुता' इत्यमर। तथा शरणागतम्-अह त्वदीयस्त्वमेवास्माक त्रातेति बुद्धया शरणं प्राप्तम्, एतानि 'त्यदादित: शेषे पुनपुसकतो लिङ्गवचनानि' इत्येकशेषे 'पुनपुसकयोस्तु परत्वान्नपुसक शिष्यते' इति नपुसकलिङ्गता। एतानि पूर्वोक्तानि हित्वा-परित्यज्य सकलमपि शत्रोरकबरस्य प्रजाना धन ज्ञात्वा सर्वथा लुण्ठयध्वम्। वस्त्रपात्रादिक सर्वमपि लुण्ठितव्यमेक वसना एव ते विधातव्या इति भाव:। ज्ञात्वेत्युक्त्येदकपरप्रजाया धर्न न स्यात्किन्तु केनापि तद्द्वारया प्रेषित स्याच्चेत्व लुण्ठितव्यमपि तु न्तरित्याज्यमेवेति तात्पर्यम्॥ २५॥

पौर्तगा०—पुर्तगालदेशादिदमानीतम् । पुर्तगालराजेन भारतेश्वराय प्रेषितम् ।

इन्दोरसा०—साधु साधु । को नाम भारतेश्वरः ?

पौर्त०—अकबरः ।

इन्दोरसा०—नहि नहि भ्रान्तोऽसि । इदानीं भारतेश्वरः सुगृहीतनामा महाराणाप्रतापः, तेन सर्वोपायनानि गृहीतानि । अथ गच्छ यथेच्छस्थानम् ।

(इति स निर्गच्छति । पुनस्ते अरण्ये प्रविशन्ति ।)

(पटोन्नयनम्)

(इत आगरानगरे परिषदुपविष्टः सामन्तादिपरिवृतोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अकबरः—मानसिंह ! कथमद्यापि पृथ्वीसिंहानुचरो नायातः । किं नाम केनापि तद्वैरिणा मम क्षणिकसुखसंपादनाय मायिकमेवेदं कृत्यं विहितमिति सत्यं स्यात् ।

मान०—संभाव्यते चैवमपि, परंतु पृथ्वीसिंहानुचरस्यागमनानन्तरमेव निश्चेष्यामः ।

अक०—मानसिंह ! तावत्प्रतापदूतमानय, निश्चेष्यामः केन कुतः स्थानात्पत्रं दत्तम् ।

(मानसिंहः स्वयं गत्वा आरक्षकाधिपतिमाहूय तेन सह अकबरसविधे प्रविशति ।)

आरक्षकाधिपतिः—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—कुत्र प्रतापदूतः ?

आर०—स च तस्मिन्नेव दिवसे त्वदीयाज्ञापत्रेण निष्कासितः ।

(इत्याज्ञापत्रं दर्शयति ।)

अक०—संवदन्ति मदीयानीवेमान्यक्षराणि । परं कस्येयं माया स्यात् ?

मानसिंहादयः—(दृष्ट्वा) बाढं भवदीयानीवेमान्यक्षराणि । बाढं स चतुरो मायिकः ।

(ततः प्रविशति स्वानुचरसहितः पृथ्वीसिंहः ।)

पृथ्वी०—जयो योगमायायाः । (इत्युक्त्वा यथास्थानमुपविशति ।)

अक०—(सस्मितम्) किमुक्तं त्वदीयेन मेवाडाधिपतिना प्रतापेन ?

(पृथ्वीसिंहः प्रतापपत्रं दर्शयति ।)

अक०—('अवेहि पत्रोत्तरणे क्रिया केवलमुत्तरम्' इति वाचयन्सर्वान् श्रावयति ।)

मानः—नैतावताऽवगम्यते, सन्धिक्रिया विरुद्धक्रिया वा ।

(अत्रान्तरे प्रविशति संभ्रान्तः पुर्तगालराजस्य दूतः ।)

दूतः—(रुदन्) महाराज ! लुण्ठितोऽस्मि ।

अक०—कस्त्वम् ? कथं लुण्ठितोऽसि ?

दूतः—महाराज ! पुर्तगालराजेन भवदर्थमुपायनीभूतानि बहुमूल्यानि रत्नानि प्रेषितानि, तानि गुर्जरप्रान्ते लुण्ठाकाः 'भारतेश्वरः प्रतापस्तस्यैवेदमुपायनम्' इत्युक्त्वाऽलुण्ठन् ।

(अथात्रान्तरे पुनः प्रविशन्ति श्रेष्ठिनः प्रजाजनाश्च ।)

श्रेष्ठिनः—हा ! हताः स्मः वयं सर्वे लुण्ठिताः ।

अक०—कैः ?

श्रेष्ठिनः—स्वस्वामिनं भारतेश्वरं मन्यमानैः प्रतापानुचरैः ।

प्रजाजनाः—हा ! हताः स्मः, अस्माकं सर्वस्वमेव लुण्ठितम् ! वयमेकवसना एव कृताः स्मः ।

अक०— कैः ?

प्रजा०—आत्मनः प्रभुं प्रतापं भारतेश्वरं मन्यमानैर्भिल्लमीणादिभिः ।

पृथ्वी०—(अकबरमभिलक्ष्य) महाराज ! मन्ये तदुत्तरणे इयमेव क्रिया स्यात् ।

अक०—अथ किम् । इयमाक्रमणक्रिया तदुत्तरम् । मन्ये तत्पत्रं न तेन लिखितम् ।

पृथ्वी०— एतद्व्यापारेण तु इदमेव निश्चीयते ।

अक०—मानसिंह ! धिक् त्वाम् बहुतरद्रव्यनाशेऽपि नायं प्रतापस्त्वया धृतः। मिथ्याभिमानिना त्वया किं तस्य कृतम्। त्वदर्थे एव मया तेन सह वैरं विहितम्। त्वं निस्सर यावत्प्रतापस्त्वया न निगृह्यते मेवाडाद् वा न निस्सार्यते तावत्परिषदि न प्रवेष्टव्यम्।

(मानः किञ्चिद्वक्तुमभिलपन् स्थितः।)

अक०—(सक्रोधम्) याहि याहि निस्सर।

मानः—(मनसि) ज्ञातिद्रोहफलमिदमनुभूयते। यत्सर्वसमक्षं शुनक इव तिरस्कृतोऽस्मि।

(प्रकाशम्) धैर्यं दधातु भवान्।

अक०—लुण्ठाकैः सकलोऽस्मदीयविषयः संत्रास्यते दुर्जनैः
सर्वस्वं ह्रियते प्रजाजनगतं जीवाम्यरक्षन्नहम्।
एकेनैव वनेचरेण निहतः पन्थाः सुखस्योदये
राज्यं पूर्णमराजकं कृतमतो धैर्यं मयि स्यात्कथम् ॥२६॥

अकबरो धैर्यस्य नायमवसर इति दर्शयति—लुण्ठाकैरिति। दुर्जनै दुष्टैर्लुण्ठाकैः प्रतापानुचरैर्भिल्लभीलादिभिः सकलः—समस्तः अस्मदीयविषयः—अस्माकं देशः सन्त्रास्यते—उद्वेज्यते। ते सकलमस्मदीयदेशमुद्वेजयन्तीत्यर्थः। प्रजाजनगतं प्रजासविधे यद्विद्यमानं तत्सर्वस्वं—सर्वं धनं ह्रियते—हठाद् गृह्यते। अहमरक्षन् प्रजाधनस्य रक्षामकुर्वन् सन् जीवामि अहो इत्याश्चर्ये। राज्ञोऽयं धर्मः। यदि प्रजाधनं रक्षितुं न प्रभवति तदा लुण्ठाकानां सम्मुखं गत्वा रणे म्रियेत, राज्यं वा परित्यजेत्। धर्मशस्तदकुर्वन्नहं जीवामीत्याश्चर्यम्। एकेनैव प्रधानभूतेन प्रतापेनैव एवकारोऽन्ययोगव्यवच्छेदको न तु बहुभिः तत्रापि वनेचरेण अरण्यवासिना। एतेन अतितुच्छत्वं तस्य सूच्यते। सुखस्य उदये, प्रजाया मम च सर्वेषामपि सुखप्रारम्भे पन्थाः मार्गो निहतः, येन मार्गेण सुखस्य प्रारम्भो भवति स मार्ग एव नाशितः। एतेन सर्वथा सुखस्याभावः सूचितो भवति। राज्यमस्मदीयं राज्यं पूर्णं सर्वतोभावेन अराजकं कृतम्।

यः प्रतापं निगृह्णीयात्स मम राज्यलाभस्य दशमांशभागी स्यात्। (पुनः किंचिच्छ्रान्तः सन्) मानसिंह ! गच्छ त्वं यथेच्छं साहाय्यमादाय प्रतापं तस्य पुत्रं कन्यकां स्त्रियं वा निगृह्णीयाः।

मानः—यदि मेवाडं परित्यज्य नासौ पलायते तदैनं हनिष्यामि, ग्रहीष्यामि वा।

अक०—एवमेव त्वयि संभाव्यते।

(ततो निष्क्रामति सामन्तपरिवृतः प्रजाजनसहितो मानसिंहः पृथ्वीसिंहश्च।)

(वीरबरेण मन्त्रिणा च समन्वितोऽकबरस्तिष्ठति।)

अक०—(मनसि) अयं पृथ्वीसिंहः प्रतापपक्षपाती, अतो मेवाडकन्यकामस्य पत्नीं स्ववशमानये। ततोऽयं तत्पक्षं विहाय मम वशवर्ती भविष्यति।

(प्रकाशम्) मया स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणार्थं विपणिः स्थापिता। तत्रैवं भवतु—

सकलविपणिमध्ये सर्वतः संचरेयु-
नवनवयसनाद्यैर्भूषिताः सद्विभूषाः।
विविधविषययाता योषितश्चैकभावा
इति मम नवरोजः कामपूर्तिं विदध्यात् ॥२७॥

एवं विहितं यथैव प्रतीयते अत्र राज्ये प्रजापालकः कोऽपि राजा नैवास्ति। अतः अराजकताकरणात् मयि धैर्यं कथं स्यात्। नाहमस्यां दशायां धैर्यं धर्तुं शक्नोमीति भावः ॥ २६ ॥

नासौ पलायते इति। एतेन षष्ठाङ्के वक्ष्यमाणो देशपरित्यागो बीजरूपेण उपक्षिप्यते।

अथ नवरोजाख्य (मीनाबाजार इति लोके) विपणौ जिगमिषुरकबरो मन्त्रिणमादिशति—सकलेति। नवनववसनाद्यैः—नवातिनवैर्वस्त्रभूषणैर्भूषिताः शोभिताः, तथा सती उत्तमा विभूषा नेपथ्यरचना यासां तास्तथा विविधाः नानाविधा ये विषया देशास्तेभ्यो याताः—आगताः,

अहमपि प्रच्छन्नवेषस्तत्राद्य गमिष्यामि।

(मन्त्रिणः कर्णे-एवमेव।)

वीरवरः—(तदभिप्रायमभिलक्ष्य) किमिदं चिकीर्षति भवान्?

अन्तःपुरे स्वे सुमनोहराभी
रम्भोरुमिर्हाटककान्तिकाभिः।
रम्भादिकाभ्योऽप्यतिशायिनीभिः
स्त्रीभिः कथं तुष्यति नो तवात्मा॥ २८॥

अथवा विविधा ये विपया—वस्त्रताम्बूलभूषणादिविक्रयास्तथा जलानयनसंमार्जनादिकानि तत्र याताः—प्राप्ताः,वस्त्राभूषणादिसकलवस्तूनां क्रयविक्रयादिकं स्त्रिय एव कुर्वन्त्विति भावः। एका एव भाषा यासां तास्तथाभूताः देशभेदाद् भिन्नभाषा अपि ता एकभाषया भाषन्ताम्, एतेन तदुक्तं स्वेन, स्वोक्तं ताभिरवगतं स्यादिति तदभिप्रायः। योषितः—स्त्रियः, सकला—समस्ता या विपणिः—पण्यवीथिका तस्या मध्ये सर्वतः—सर्वतोभावेन संचरेयुः, तत्र स्त्रिय एव संचरन्तु नच कस्यापि पुरुषस्य तत्र संचारोऽपि स्यादिति तदाशयः। इति अमुना प्रकारेण नवरोजो मम कामपूर्तिं स्त्रीणां चातुर्यशिक्षणाभिलषितम्, अथवा संभोगेच्छाविषयकाभिलाषपूर्तिम्। अथवा कामस्य—मनोभवस्य पूर्तिं—यथेच्छमनोभवतृप्तिं विदध्यात्—करोतु। एतेन अभिलाषातिशयो द्योत्यते॥ २७॥

अथ वीरवलस्तदभिप्रायमवगत्य परस्त्रीसंसर्गात्प्रतिषेधते—अन्तःपुरे इति। सुमनसो—देवास्तेषां हराभिः, सौन्दर्येण देवानप्याकर्षयन्तीभिः, यासां सौन्दर्यमवलोक्य देवा अप्यभिलषन्ति। यद्वा—सुमनसः पुष्पाणि तासां हराभिः, स्वशोभया पुष्पाणि हरन्तीभिः, स्वकान्तिसमक्षं पुष्पशोभां नाशयन्तीभिरित्यर्थः। अथवा—सुष्टु शोभनप्रकारेण मनसो हराभिः, अतिसुन्दरीभिरित्यर्थः। तथा रम्भा इव कदलीस्तम्भसदृशौ ऊरू यासां तास्तथा, हाटकस्य—सुवर्णस्य कान्तिरिव कान्तिर्यासां तास्तथा रम्भादिकामपि। रम्भामेनकातिलोत्तमानामपि सौन्दर्यवत्त्वेन अतिशायिनीभिः अति-

अलं राजधर्माद्विरुद्धेन सुतामातृतुल्याभिः परस्त्रीभिः सह व्यभिचारेण ।

अन्योपभुक्तां परकीयकान्तां भोक्तुं न ते धावतु चित्तवृत्तिः ।
उच्छिष्टभोजी खलु सारमेयस्तस्मात्परीवादपदं च मा गा ॥२९॥

अक०--वीरवर ! राजधर्मपरिज्ञाने त्वं तावद्बाल एव । नैवविधेषु कार्येषु राजधर्मः परिपन्थी भवति ।

शृणु तावद्राजधर्मम्—

प्रजां पुत्रमिवेक्षेत स्वात्मानमिव पालयेत् ।
समासेनायमाख्यातो राजधर्मः पुरस्तव ॥३०॥

कान्तवतीभिः स्त्रीभिः तवात्मा-त्वदीया चित्तवृत्तिः, स्वे-स्वकीये अन्तःपुरे कथं नो तुष्यति । तथाभूताभिरतिसुन्दरीभिः स्त्रीभिः सह तवात्मा कथं न तुष्टो भवतीति भावः ॥ २८ ॥

अथ परस्त्रीसंसर्गे घृणां निन्दां च दर्शयन् प्रतिषेधते—अन्येति । ते तव चित्तवृत्तिः, अन्येन-अन्यपुरुषेण उपभुक्ताः परकीयकान्ता-परस्त्रियम्, अथवा-परकीयां कान्ताम्, स्वकीयातिरिक्तामन्यस्त्रियम् । एतेन पिताद्यधीनतया कन्याया अपि परकीयात्वम्, तुभ्यमदत्ता कस्यचित्कन्यका च, भोक्तुं न धावतु-उपभोक्तुं नैव गच्छतु । अन्योपभुक्तभोक्तृत्वे घृणां प्रदर्शयति—उच्छिष्टभोजी-अन्योपभुक्तपरित्यक्तभोगी, सारमेयः-शुनकः । खलु इति निश्चये । सारमेय एव उच्छिष्टभोजी भवति, नान्य इत्यर्थः । तस्मात् परीवादपदम्-आक्षेपस्थानं मा गाः । लोकास्त्वां सारमेयं कथयिष्यन्तीति भावः ॥ २९ ॥

अथाकबरोऽन्यदोषं स्वीकृत्य केवलं राजधर्माद्विरुद्धतां निरस्यति । तत्र राजधर्मस्वरूपं प्रदर्शयति—प्रजामिति । प्रजां पुत्रमिव ईक्षेत, यथा पुत्रकष्टे उद्विग्नः सन् शीघ्रमेव तन्निवृत्त्यर्थमुपायं करोति एवमेव प्रजाकष्टेऽपि शीघ्रमेवोपायं कुर्यात् । स्वस्य आत्मानमिव पालयेत् । दुष्कालसमये भोजनादिदानेन तां पालयेत्, कष्टं च न दद्यात् । अयं राजधर्मः तव पुरस्तवाग्रे मया समासेन-संक्षेपेण, आख्यातः-कथितः । राजधर्मे एतदेव तत्त्वमिति भावः ॥ ३० ॥

किञ्च—ईतावापत्तिकाले च प्रजायाः पालनं चरेत् ।
व्यसनाद्भयतो रक्षेदेष धर्मो महीपतेः ॥३१॥

अन्यच्च—धर्मादर्थं न वा कामं बाधयेत विचक्षणः ।
धर्मकामौ न चार्थेन कामाद् द्वौ नेति निर्णयः ॥३२॥

अपिच—धर्मादर्थं विचिनुयादर्थात्कामं च साधयेत् ।
कामो मनोऽनुकूलः स्यात्स्वर्गेऽस्माच्च परं किमु ॥३३॥

पुनराह-ईताविति । ईतौ-अतिवृष्ट्यनावृष्ट्यादिसमये आपत्तिकाले आपत्तिसमये चौराग्निभयादिसमये प्रजायाः पालनं चरेत्-अन्नवसनादि-साहाय्यदानादिना प्रजाया रक्षणं कुर्यात् । व्यसनात् द्यूतमद्यादिव्यसना-दिभ्यः भयतो व्याघ्रादिभयाच्छत्रुभयाच्च रक्षेत् प्रजाया रक्षां कुर्यात्, एष महीपते राज्ञो धर्मः, एष राजधर्म इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

पुना राजधर्मे धर्मार्थकामानां व्यवस्थामाह—धर्मादिति । विचक्षणः-उत्तमविवेको राजा धर्मात् अर्थं न बाधयेत, न च कामं धर्मात्काममपि न बाधयेत । नैवं प्रकारेण धर्मे आसक्तः स्यात् येन अर्थबाधककार्यमेव विनश्येत् । नापि नितान्तं कामं परित्यज्य धर्ममेव सेवेत । किन्तु अर्थ-कामावबाधयित्वैव धर्मं सेवेत । एवमर्थेन धर्मकामौ न बाधयेत । नैवार्थ-लिप्सया अधर्मेण अर्थोपार्जनं कुर्यात्, तथा कामस्य व्ययसाध्यत्वादर्थ-लिप्सया काममपि न परित्यजेत् । तथा कामाद् द्वौ पूर्वोक्तौ धर्मार्थौ न बाधयेत । अयमर्थः—न च कामलिप्सया धर्मविरुद्धं भगिन्यादिगमनं कुर्यात् । नापि कामेन सर्वथा अर्थं नाशयेत् इत्येष निश्चयः । सकल-शास्त्रसिद्धान्तसिद्धोऽयमर्थ इति भावः ॥ ३२ ॥

अथ पुनस्तत्प्रकारमाह—धर्मादिति । धर्मात् अर्थं-द्रव्योपार्जनं विचिनुयात् । पुष्पावचयमिव द्रव्योपार्जनं कुर्यात् । यथा पुष्पाण्यवचिन्वन् पुष्पवृक्षं न नाशयति, एवमेव धनमवचिन्वन् धनिनं न नाशयेत् । यतः पुष्पमिव पुनरपि धनं दद्यात् । विचिनुयात्सर्वेभ्यः किञ्चित्किञ्चिद् गृह्णी-यान्नचैकत एव सर्वं गृह्णीयादित्यर्थः । एवमर्थात् कामं-कार्यं साध-येत् । कामो मनोऽनुकूलः मनसः अनुकूलो मनोऽनुकूलः स्यात्, यत्र

मन्त्रिन्! त्वं गत्वा तथैवारचय। अहमपि यथावसरं प्रच्छन्नवेषः संचरिष्यामि।

वीरवरः—(नीचैः स्वरेण) नैवमवगच्छसि। यदा कस्या अपि सावित्रीसमायाश्चण्डिकाया आर्यक्षत्रियाया हस्ते निपतिष्यसि तदैव राजधर्मं शिक्षिष्यसे।

(इति वदन्निष्क्रान्तो मन्त्रिणा सह वीरबलः।)

(अकबर एकाकी परिक्रामति।)

पटोन्नयनम्

(अकबरः नवरोजे चण्डिकां पृथ्वीसिंहपत्नीं निग्रहीतुं दूतिकया विमार्गेण स्वभवनेऽवरुणद्धि। ततः सर्वतः पिधीयन्ते कपाटानि।)

चण्डिका—(मनसि) आः किमिदं जातम्। कथमहमवरुद्धाऽस्मि। अस्तु। संभाव्यते दुष्टनरपिशाचस्य नारकिणोऽकबरस्येदं कृत्यं स्यात्।

(ततः प्रविशत्येकतः कपाटमुद्घाटयन्नकबरः।)

अक०—एह्येहि सुन्दरि! मनोभवतापतप्तं
मां शीतलैसुमस्तूणैः परितर्पयाङ्गैः।

मनोऽभिरमते तदेव कार्यं कुर्यादित्यर्थः। अभिलाषोपनीतं कार्यं साधयेदित्यर्थः। अस्मात् एतस्माच्च परमधिकं स्वर्गं किमु-नातः परं स्वर्गेऽपि किञ्चिदस्तीति भावः॥ २१॥

स्वर्गलक्षणं चैतत्—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥

अतो राज्यमुपलभ्य मनोऽनुकूल एव कामसुखोपभोगः कर्तव्य इति भावः। चण्डिका तन्नामा पृथ्वीसिंहपत्नी।

अकबरश्चाटूक्तिभिस्तां प्रलोभयति-एह्येहीति। हे सुन्दरि-सौन्दर्ययुक्ते! त्वमेहि एहि। अवश्यमिह मत्सकाशं प्राप्नुहि। त्वं मनोभवस्य-कामस्य तापेन तप्तं-संतप्यमानं मां शीतलैः-शैत्यगुणविशिष्टैः, तापे शीतलं

दासस्त्वदीयमुखपद्ममसौ द्विरेफः
पातुं यदिच्छति ततोऽनुगृहाण मुग्धे ! ॥१४॥

पटोन्नयनम्

चण्डिका—(मनसि) आः ! कथमसौ पापात्मा मामाक्रमितुमभिलपति । अहमेनं नारकिणं पापाचरणफलमनुभावयामि (इति विचिन्त्य सहसा आक्रम्य सकफरं पातयति । असिपुत्रिकां निष्कास्य तस्य हृदये स्थापयति ।)

(अकफरः आसन्नमृत्युमिवात्मानमवगत्य भयप्रस्तनयनो विह्वलः सन् दीनस्वरेण) मातः ! अनुगृहाण मुञ्च माम् ।

चण्डिका—आर्यस्त्रीणां सम्मुखं नैव पश्येः
स्नाभिः सार्धं नैव काङ्क्षां विदध्याः ।
धर्मात्मानो मातरस्स्युर्मदीया
इत्थं ब्रूयाश्चेत्ततस्त्वां त्यजामः ॥ १५ ॥

मुखमनकं भवतीति मुखमनके, मुखमुखैरित्यर्थः असौः-स्वकीयैरवयवैर्मुखोदरमध्यादिभिः पवित्रपंच । पुनः पुनस्तवमुखमेव पातुमयनयेत्यर्थः । दासस्त्वदीयदासभूतः असौ द्विरेफः—रेफद्वयविशिष्टो राजाऽकबरो भ्रमरो वा त्वदीयमुखपद्मं-त्वदीय मुखमेव पद्मं त्वदीयमुखकमलं पातुमधरोष्ठं पातुं मुखं भाविरयं चुम्बितुं वा यद् यस्मात्कारणादिच्छति ततस्तस्मात्कारणात् हे मुग्धे ! [illegible] मूढे इत्यर्थः । अनुगृहाण अनुग्रहं कुर्वित्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ सा [illegible] प्रतिज्ञां कारयति—आर्यस्त्रीणामिति । त्वम् आर्यस्त्रीणां सम्मुखं नैव पश्येः, [illegible] ता [illegible] न कुर्याः । स्नाभिः सार्धं काङ्क्षां नैव विदध्याः । [illegible] एव [illegible] न कुर्याः । धर्मा [illegible] आर्ये- [illegible] मातरः स्युः । [illegible] धर्ममातरो भवन्तु । [illegible] ब्रूयाः [illegible] अनेन [illegible] त्वां त्यजामः अन्यथा मारयामः । वर्तमानसामीप्ये [illegible] । 'अस्मदो द्वयोश्च' इति बहुवचनम् ॥ १५ ॥

अक०—आर्यस्त्रीणां संमुखं नैव द्रक्ष्यामि। ताभिः सार्धं नैव काङ्क्षां विधास्ये। धर्मात् सर्वा आर्यस्त्रियो मे मातरः सन्तु। मां मुञ्चतु मातः! (इति दीनमिव प्रार्थयते)

चण्डिका—गच्छ। मुच्यसे मृत्युमुखात् (इति असिपुत्रिकामुत्थाप्य पृथक् स्थिता सती निष्क्रान्ता।)

अक०—(स्वाङ्गानि परिमृजन्नुत्तिष्ठति। भयादितस्ततोऽवलोक्य) (मनसि) आः! साक्षाच्चण्डिका रुद्राणी कालीव प्रचण्डकोपा वीरा सा। बाढं मेवाडभूमेरेवायं प्रभावः,यद्देशजाः स्त्रियोऽप्येवंविधा वीरा भवन्ति, तत्रत्येषु पुरुषेषु कीदृशं शौर्यं स्यादित्यनिर्वचनीयमेवैतत्। अहो दैवान्मृत्युमुखान्मुक्तोऽस्मि। (प्रकाशम्) नातः परं नवरोजमागमिष्यामि। (ततो निष्क्रान्ताः सर्वे।)

इति श्री महामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके पञ्चमोऽङ्कः।

आः बाढमिति। स्त्रीषु नायाविपर्यन्तमेतादृशं शौर्यमवलोकितम्, यथेदं दृष्टमनुभूतं च तद् बाढं निश्चयेन मेवाडदेशस्य भूमेरेव अयं प्रभावः। इयं मेवाडदेशोत्पन्नेति तद्भूमिप्रभावादस्यामेतादृशं शौर्यं जातमित्यर्थः। स्त्रीपुरुषयोः शौर्यतारतम्येनाह। यद्देशजाः स्त्रियोऽप्येवंविधा वीरा इति तासां तारतम्येन स्त्रीणामपेक्षया पुरुषेषु कियदधिकं शौर्यं भवतीति पर्यालोचनायां मेवाडदेशोद्भवेषु कीदृशं शौर्यंस्यादित्यनिर्वचनीयमेवैतत्। वक्तुमशक्यमेवैतत्। तत्सादृश्यस्याभावान्नैवं वक्तुं शक्यते एतादृशं तेषु शौर्यमिति भावः।

सर्वे अकबरो दूतिप्रभृतयश्च।

इति श्रीसर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्यायविद्यावारिधिमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके वैजयन्तीव्याख्यायां पञ्चमोऽङ्कः।

षष्ठोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(इद्राधित्यकाया स्थितो मन्त्रिसमन्वितः प्रतापश्चिन्तयति ।)

प्रता०—श्रूयते महता बलेन मानप्रभृतयः सन्नह्यारोहन्ति ।

चन्द्रा०—मन्त्री—एवमेवैतत् ।

मानोऽपमानाद्धनलिप्सयाऽन्ये
स्वान्तेन न स्वान्तमपि स्मरन्तः ।
अन्वेपयन्त्यद्रिगुहान्धुशाखि-
ष्वधित्यकोपत्यकयोर्भवन्तम् ॥ १ ॥

(तत प्रविशति मुकुलितहस्तो निश्वसन् गुहः ।)

गुह.—महाराअ ! गहिओ ।

महाराज ! गृहीत· ।

प्रता०—किं मानः शाहबाजो वा ?

मानसिंहवचसा 'मेवाड परित्यज्य यदि नासौ पलायते' इत्यादिनोपक्षिप्तस्य षष्ठाङ्कस्यारम्भः क्रियते । अधित्यकाया पर्वतस्योपरिभागे । 'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमर. । मन्त्री मानप्रभृतीनामुद्योगं दर्शयति । मान इति । मानः–मानसिंहः, अपमानात्–अकबरकृततिरस्काराद् हेतो , अन्ये शाहबाजप्रभृतयः धनलिप्सया 'य प्रताप निगृह्णीयात्स मे राज्यलाभस्य दशमाशभागी स्यात्' इत्यकबरप्रदर्शितधनलोभेन हेतुना, स्वान्तेन चेतसा स्वान्तमपि स्वस्य आत्मनः अन्तं नाशमपि न स्मरन्त. न भावयन्तः यद्वा–स्वस्य अन्त–पर्यवसानम् यवनसाम्राज्ये अस्माक कीदृश्यवस्था भविष्यतीति न स्मरन्त । भाविफलमचिन्तयन्त इत्यर्थ.। अथवा–स्वान्तेन–चेतसा स्वान्त–चित्त न स्मरन्तः अमनस्का एव कार्यं कुर्वन्त इत्यर्थः । अद्रयः पर्वताः, गुहा देवखातस्थानानि, अन्धव -जलरहितकूपा , शाखिनो–विटपास्तेषु, अधित्यकाया–पर्वतोपरिभागे, उपत्यकाया–पर्वतस्यासन्नभागे च भवन्तमन्वेषयन्ति–गवेषयन्ति । एतेन निलयनस्थानवसरः सूचितो भवति ॥ १ ॥

गुहः—णहि णहि, अम्हाणं गमणागमणमग्गो माणसीहाईहिं
नहि नहि, अस्माकं गमनागमनमार्गो मानसिंहादिभिः
अहिकिओ। माणप्पहिइसंरक्खिया पलयकालियसमुद्-
अधिकृतः। मानप्रभृतिसंरचिता प्रलयकालिकसमुद्र-
णिणादसम णिग्घोसा चविन्दाभीमगढकोमलमीराइट्टा-
निनदसमनिर्घोषा चविन्दाभीमगढकोमलमीरादिस्था-
णेसु विअत्ता दुग्गवणपव्वयकन्दराुक्खवसुहाहिव-
नेषु व्याप्ता दुर्गवनपर्वतकन्दरावृक्षवसुधाधिप-
गुवच्चगासु सव्वओ पसरमाणा अगवरसेणा इओ
कोपत्यकादिषु सर्वतः प्रसरन्तो अकबरसेना इतो
णाइदूरे ठिआ।
नातिदूरे स्थिता।

प्रता—किं दैन्यं परिहाय पर्वतगतं शत्रोर्बलं नाशयन्
नश्येयं किमु वा निलीय कुहरे कालं नयेयं पुनः।
किं वा मातृभुवं विमुच्य विपिने तिष्ठेयमात्मद्रुते-
र्यद्वा मित्रकलत्रपुत्रसहितो गच्छेयमन्यत्रितो ॥२॥
गुहराज! त्वमपि कथय, किमतः परं कर्तव्यम्।

मानप्रभृतीति। मानसिंहप्रभृतिभिः संरक्षिता। एतेन अनेकेऽत्र सेनापतयो बहवश्चात्र सेनाविभागा इति सूच्यते। तथा प्रलयकाले जातो यः समुद्रनिनदः समुद्रशब्दस्तेन समो निर्घोषो हरहरायमाणशब्दो यस्याः सा तथा। चविन्दाभीमगढकोमलमीरादिस्थानानि स्वस्वनाम्ना प्रसिद्धानि तेषु व्याप्ता। अन्यत्सुगमम्। नातिदूरे स्थिता, एतेन शीघ्रमेव तदुपायकर्तव्यता सूचिता भवति।

प्रतापस्तदुपायं परामृषन् कथयति—किं दैन्यमिति। किं दैन्यं-पर्वतादिषु पलायनादिकं परिहाय-परित्यज्य पर्वतगतं-पर्वतप्राप्तं शत्रोर्बलं सैन्यं नाशयन्-मारयन्, सेनाया बाहुल्यात्तत्रैव नश्येयम्। किमु वा कुहरे-महागर्तादिप्रदेशे, निलीय-अन्तर्हितो भूत्वा पुनः कालं नयेयं-कालयापनं कुर्याम्। किं वा मातृभुवं विमुच्य-त्यक्त्वा, विपिने-वने,

गुह —अहुणा इह ठिओ गहिओ हविस्सइ । अओ पव्वयच्चाओ
अधुना इह स्थितो गृहीतो भविष्यति । अत पर्वतत्यागः
कत्तव्वो । जीवमाणो पुणो वि महाराओ विजिस्सइ ।
कर्त्तव्य । जीवन् पुनरपि महाराजो विजेष्यते ।

मन्त्री—महाराज ! युज्यते चैवम् ।

प्रता०—तर्हि पर्वतावरोहणमार्गमादेशय ।

गुह —इदोऽवरुहन्तु महाराआओ ।
इतोऽवरोहतु महाराजा ।
(इति सर्वेऽवरोहन्ति ।)

अमरसिंह —हा मातृभूमे ! नीतिवशात्त्वमधुना मुच्यसे
(इति वदन् रोदिति) हा वसुधरे ! पुनरपि मामनुग्र-
हीष्यसि ।

प्रता०पत्नी—अयि विस्सभरे पुणो वि सुमरिस्ससि । अणु
अयि ! विश्वम्भरे पुनरपि सुस्मरिष्यसि । अनु-
ग्गहेण सिग्घ सकुडुम्ब चेव इम जण समुवट्ठा
ग्रहेण शीघ्र सकुटुम्बमेव इम जन समुपस्थाप-
विस्ससि (इति रुदती अवरोहति ।)
(यिष्यसि)

प्रता०—(पुन पराकृत्य)
मातस्त्वदङ्कपरिवर्धितलालितोऽय
मुक्त्वा प्रयाति विपयान्तरमद्य मूढ ।

आत्महुते' आत्महुति विधाय तिष्ठेयम् । पक्षत्रयेऽपि अनिष्टसभावनया सिद्धान्तयति । यद्वा–मित्र च कलत्र च पुत्रश्च तै सहितोऽप्यहितो सर्वथा अपरिचितस्य राज्ञ पृथिव्या देशे इत्यर्थः । गच्छेयम् । तत्र शत्रोरागमनाद्यभावादित्यर्थ ॥ २ ॥

अथ प्रताप शुचा कथयति–मात इति । हे मात ! त्वदङ्के–त्वन्म ध्यभागे अय प्रतापः परिवर्धित , लालितश्च । मातुरुत्सङ्गे सार्वकालिकी

किं युक्तमत्र किमु वा न च युक्तमेत—
न्नो निर्णये मम मतिः कथमप्युपैति ॥३॥

(इति कथयन् प्रणमति । पुनः किञ्चित्परावृत्य सर्वे प्रणमन्ति ।)

सेनापतिः—त्वर्यताम् ! त्वर्यताम् ! दूरेऽस्माकं विश्रामस्थानम् ।

प्रता०—आः प्रचण्डः सहस्रभानुः सन्निहित इवासावुपतिष्ठते ।

सेना०—दारुणो भूमेः संतापः ।

पटोन्नयनम्

(सर्वे चलन्ति । ततः आगच्छति किंचिद् दूरे गायन्ती योगिनी ।)

योगिनी—धावत धावत भजत प्रतापम् ।
एनं धर्मकरणतो रक्षत सिन्धुशरणमुपयातम् ।

स्थितिर्न भवति, शैशवकिशोराद्यवस्थायामङ्काद् बहिर्भागे एव लालनपालनादिकं भवति । तव तु अङ्के एव सदैव परिवर्धितो लालितश्चेति मातुरपेक्षयास्याः स्नेहातिशयः सूच्यते । अत्र मूढः-कर्तव्याकर्तव्यपरिज्ञानशून्यः । अतोऽस्यनेन सर्वकाले भक्तिमत्त्वेऽपि अद्य मूढः अयं प्रतापः मुक्त्वा प्रत्यासत्त्या त्वां मुक्त्वा—परित्यज्य विषयान्तरम्-अन्यो विषयो विषयान्तरम् अन्यं देशं प्रयाति । यद्वा-शौर्यादिमरणविषयादन्यं स्वप्रायरक्षारूप विषयं प्रयाति । किमित्येवं करोमीत्याह । अत्र कर्तव्यविषये किं युक्तम्, किमु वा न युक्तम्, एतन्निर्णये मम मतिः कथमपि नो उपैति । एकपक्षस्वीकारे आक्षेपशास्त्रविरोधादिना नैव निश्चयो भवति । इदमेव कर्तव्यमिति निश्चेतु नाहं शक्नोमीति भावः ॥ ३ ॥

गायन्ती योगिनी—इयं सैव गणिका तथाभूततपोवशाद् योगवशाच्च योगिनी संवृत्ता । किं गायतीति दर्शयति—धावतेति । भो लोकाः यूयं धावत । कालातिपातो नैव कर्तव्य इत्यर्थः, सायंकाले सूर्यसद्भावे एव सन्ध्योपासनं कर्तव्यमिति विशेषोऽर्थः । मुख्योऽर्थोऽप्येवमेव व्याख्येयः । यूयं धावत प्रतापं प्रतापसिंहम्, अथ च प्रकृष्टस्तापः संतापो यस्मिन्निति प्रतापः-सूर्यस्तं भजत-सेवत । सैनिकादिषु सहयोगेन संध्योपासनादिना वा । एनं प्रतापसिंहं धर्मकरणतः-दानधर्मात्, रक्षत-

लोकालोकविसर्जितनिजवसुमपरविषयमनुयातम् ।
रिक्तकरं शिखराधरभागे स्खलितपदाब्जनिपातम् ॥
पश्यत नीचयानमवगत्य क्रोधाद्रुत्यमिवेतम् ।
धूलिधूसरितमेनमनंहसमभितो नमत प्रयातम् ॥

सहायता कुरुत । पक्षे प्रेरणालक्षणो धर्मः; वेदबोधितकार्यकरणेन यथा 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत, स्वर्गकामो यजेत इत्यादिना बोधितस्य कार्यस्य करणतः धनं सूर्यं रक्षत । कीदृशमित्याह । सिन्धोः सिन्धुदेशस्य शरणम् उपयात-प्राप्तम् । अथ च सिन्धोः समुद्रस्य शरणमुपयातम् । पुनस्तमेव विशिनष्टि लोकेति । लोकाः-साधारणपुरुषाः, अलोकास्तदतिरिक्ता विद्वांसस्तेषु विसर्जितं-दत्तं निजमात्मीयं वसु-धनं येन तम् । अन्यत्र-लोकालोकेषु-सर्वत्रेत्यर्थः, विसर्जिता निजा यद्वो-रश्मयो येन सः तम् । 'देवभेदेऽनले रश्मौ वसू रत्ने धने वसु' इत्यमरः । तथा अपरस्य न परः अपरस्तस्य अपरस्य स्वकीयस्येत्यर्थः । यद्वा-अपरस्य-अन्यस्य विषयं देशमनुयातम् अनुगत प्राप्तमित्यर्थः । 'नीवृज्जनपदो देशविषयौ तूपवर्तनम्, इत्यमरः । यद्वा-अपरः-अन्यः युद्धातिरिक्तः कालयापनरूपो यो विषयस्तम् अनुयातम् । अन्यत्र अपरः-अनुत्कृष्टः समुद्रनिमज्जनरूपो यो विषयस्तम् अनुयातम् । यद्वा-अपरः अन्यो यो विषयो-देशः अमेरिकादिदेशस्तम् अनुयातम् । पुनः किं विशिष्टमित्याह-रिक्तकरम् । रिक्तः द्रव्यशून्यः करो-हस्तौ यस्य स तथा । अन्यत्र करैः रिक्तः इति रिक्तकरः—किरणशून्यः । 'बलिहस्तांशवः कराः' इति कर इत्यस्य पररूपम् । यद्वा-रिक्ताः-प्रकाशशून्याः,कराः-किरणा यस्य सः स तथा । पुनः किं विशिष्टम् । शिखरस्य शृङ्गस्य पर्वतोपरिस्थितभागस्य अधरभागे-अधःप्रदेशे, स्खलितः-विशृङ्खलितः, पदाब्जनिपातश्चरणस्थापन यस्य सं तथा । अन्यत्र-स्खलितः पदाब्जनिपातो यस्य तं तथा ।

पुनराह-यूयं पश्यत । नीचस्य—यवनाधिपतेः-सेनानायकस्य शाहघासस्य, यद्वा-स्वशातिद्वेषनीचकर्मकर्तृतया नीचस्य-मानसिंहस्य, यानम् धारोहणम्, अवगत्य क्रोधादयमिव इतम्, इण् गतौ-रक्तवर्णम्, प्राप्त-

अञ्जलिपूरितवसुभिरस्य हत दुरिताहितकुलजातम् ।
प्रविशति तमो विश्वत. कुरुते सदसद्भावविघातम् ॥

मित्यर्थः । मानसिंहावरोहणज्ञानानन्तरमेव रक्तवर्णं मासमित्यर्थः । अन्यत्र नीचस्य-तमस , यान-प्राप्तिम्, अन्यत्समानम् । पुनः किंविशिष्टम् । धूल्या धूसरितम् दैन्याएडुवर्णोपेतम् । उभयत्र समानम् । अनघम्-पापरहितम् , तथा प्रयात-गच्छन्तम् , एन-प्रतापम्, सायकाले अस्तोन्मुख सूर्यं च । अभित नमत-प्रणाम कुरुत । उपस्थानादिना सूर्यं चाराधयत । तथा-अञ्जलौ पूरितानि यानि वसूनि-धनानि तै , अन्यत्र वसूनि-जलानि तै । अस्य प्रतापस्य सूर्यस्य च दुरितानि इव अहिताः-शत्रवस्तेषा कुलजात-कुलसमूहम् , यद्वा-कुले जात-शत्रुकुलोत्पन्न जातित्वादेकवचनम् । सर्वानपि शत्रुकुलोत्पन्नान् हत-नाशयत । अन्यत्र सूर्याञ्जलिभि अत्यन्तदुरितयुक्तत्वादभेदोपचाराद् दुरिता -पापिनो ये अहिता -शत्रवस्तेषा कुलजात, हत-नाशयत । बहुतरद्रव्यदानेन साहाय्यकरणात्प्रतापस्य शत्रुकुल नाशयत । अन्यत्र-सूर्यविपक्षिणो राक्षसान्नाशयत । सूर्याञ्जलिभि सूर्यविपक्षिणो राक्षसा नश्यन्ते इति पौराणिकी कथाऽनुसन्धेया । पुनराह—तम -तम प्रकृतिकः धर्मविरोधित्वादन्धकारस्वरूप अकबर तमश्च विश्वतः-सर्वत प्रविशति,तथा सदसद्भावयोधर्माधर्मयोर्विघात नाश कुरुते । वस्तुन अस्तित्वनास्तित्वयोर्ज्ञानस्यैव नाशं कुरुते इत्यर्थं । नहि गाढे तमसि किञ्चिदपि वस्तु अस्ति वा नास्ति वेति ज्ञायते । स्व स्वकीय लोभसहित मान, लोभमपि मानमपीत्यर्थः अथवा जातिरप्राणिनामित्येकवद्भाव लोभ च मान चेति द्वन्द्व । अपसारयत—दूरीकुरुत । लोभ त्यक्त्वा द्रव्यसाहाय्येन सेनासन्नाहं कारयत, मान विहाय अस्यानुगामित्वेन युद्धे सहयोग कुरुतेति भावः । अन्यत्र-लोभम् अस्मिन्समये एतत्कार्यं कृत्वा धनमुपार्जयिष्यामः अल सन्ध्योपासनयेति लाभबुद्धि परित्यज्य, अय च मानम् कथ वय राजानो विशिष्टधनिनो वा क्षुद्रब्राह्मणवत् सध्योपासन करिष्याम इत्यभिमानबुद्धि विहाय । प्रतापमवापयित्विह प्रद्योतयत-राज्यप्रापणेन सर्वोत्कृष्टतया वर्तमान कुरुत,अन्यत्र-

लोभमानमपसारयत स्वं प्रद्योतयत प्रतापम् ।
नश्यति तम उदयते प्रताप· प्रणमत पुनरायातम् ॥ ५ ॥

(इति गायन्ती योगिनो हठादिव सर्वानपि प्रतापानुगामिनो विदधाति ।)

(तत· प्रविशति तद्गानेन प्रतापानुरक्तो विह्वलो भामागुप्तः ।)

भामागुप्तः—श्रा· ! क्व गतोऽसौ मे प्राणाधार· प्रताप· ?

क्वासौ मे प्रतिपालक· क्षितिपतिर्भूपालचूडामणि-
र्मां त्यक्त्वैव हहा प्रयाति विषये सिन्धौ प्रताप कथम् ।
किं स्यान्मे वसुभि सुतेन किमु वा प्राणैश्च किं वा फलं
प्राणेशं यदि तं व्रजन्तमभितो नावर्तने स्यां क्षम· ॥ ६ ॥

प्रताप सूर्यं प्रद्योतयत–तमो विनाश्य उदित कुरुत । पुनराह । तमः–तम स्वरूप यवनशासन नश्यति–क्षीयते, प्रतापः उदयते, श्रस्य प्रारब्धस्य श्रनुपदमेव उदयो भविष्यतीति वर्तमानसामीप्याल्लट् । श्रन्यत्र–तमः–श्रन्धकारो, नश्यति–क्रमशः क्षीयते, प्रताप· सूर्यं उदयते । पुनः श्रायातं प्रताप सूर्यं च प्रणमत-नमस्कुरुत इति ॥५॥

श्रथ योगिन्या वचन श्रुत्वा विह्वलो भामागुप्तः कथयति —क्वासा· विति । मे–मम प्रतिपालक –संरक्षक·, भूपालाना–राज्ञा चूडामणि -शिरो· रत्नसदृशः, श्रसौ क्षितिपति -पृथ्वीपति प्रतापः क्व । क्वनास्तीत्यर्थ· । हहा इत्यत्यन्तखेदे । प्रताप· मा त्यक्त्वैव सिन्धौ विषये–सिन्धुदेशे कथ प्रयाति । कथमेव गच्छतीत्यर्थ· । मे मम वसुभिः–बहुतरधनै·, किं स्यात्-किं भवेत् । न किंचिदनेन प्रयोजन सेत्स्यतीत्यर्थः । वा–श्रथवा, सुतेन–पुत्रेण किमु । तेनापि न किंचित्प्रयोजनमित्यर्थ । वा–श्रथवा, प्राणैश्च किं फलम्, तद्गमने सति प्राणा श्रपि निष्फला एव । 'तदेतद्वित्तात्प्रेयः पुत्रात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मात्प्रेया यदयमन्तरतरात्मा' इत्यात्मनोऽपि निष्फलत्वे हेतु दर्शयति–यदि व्रजन्त–गच्छन्त प्राणेशप्राणनाथ त प्रतापम्, श्रभितः श्रावर्तने क्षम·-समर्थः न स्याम्, तर्हि मे जीवनेनापि न फलमित्यर्थ· । एतेन प्रतापस्य प्राणेभ्योऽप्यधिकप्रियत्व व्यज्यते ॥६॥

(योगिन्याः संमुखमुपेत्य) अयि योगिनि ! योगचक्षुषा प्रतापं पश्यन्ती त्वमेव कथय, कुत्रासौ मे प्रतापः ?

योगिनी—पश्य । सोऽयं प्रतापोऽनेनैव मार्गेणोपगच्छति

(इति दूराद् दर्शयित्वा) 'अञ्जलिपूरितवसुभिरस्य हृत'

(इत्यादि गायन्ती निःसृता ।)

भामा०—(राजपत्नीं पश्यन्)

आः ! सेयं मम मातृतुल्या पूज्या महाराज्ञी ।

पश्योर्ध्वं पदमुन्नमय्य सहसा यान्ती क्वचिच्छार्करे

दीप्ताङ्गारमिवाङ्गुलीषु पतितं ग्रावाणुकं सुस्थिरम् ।

भूमेस्तापवशेन चञ्चलतरा निष्काशितुं चाक्षमा

स्थातुं न व्रजितुं न च प्रभवति स्वामिन्यसौ विह्वला ॥७॥

अयं प्रतापः

रोषारुणविशालाक्षस्तान्तस्वान्तः प्रसन्नधीः ।

विचारयन्निव हृदा मन्दं मन्दं व्रजत्यसौ ॥ ८ ॥

अथ भामागुप्तः प्रतापपत्न्या गतो घर्मदुःखं दर्शयति—पश्येति । पश्य, क्वचिच्छार्करे—वालुकामयप्रदेशे पदम् ऊर्ध्वम् अत्यन्तम् उन्नमय्य स्वकीयं चरणमत्यन्तमुन्नतं कृत्वा सहसा यान्ती—गच्छन्ती, असौ स्वामिनी दीप्ताङ्गारमिव प्रज्वलदग्नेः अङ्गारमिव अङ्गुलीषु—अङ्गुलिमध्ये पतितं सुस्थिरं दृढतया तत्रैवावस्थितं ग्रावाणुकं-पाषाणकणिकां भूमेस्तापवशेन अत्यन्तभूमिसंतापात् चञ्चलतरा अत एव निष्काशितुम् अक्षमा, तन्निष्काशनं स्थित्वैव संभवति, चञ्चलतरत्वे स्थितेरभावात् । एवं च विह्वला—अतिदुःखवशादुद्विग्ना असौ स्वामिनी न स्थातुं न च व्रजितुं प्रभवति । नैव समर्था भवतीति भावः ॥७॥

अथ भामागुप्तः प्रतापमवलोक्य वर्णयति रोषारुणेति । रोषेण अरुणे—रक्तवर्णे, विशाले—दीर्घे, अक्षिणी यस्य स तथा । तान्तं—खेदयुक्तं स्वान्तं—मनो यस्य सः तथा । प्रसन्ना धीः—कर्तव्यज्ञानविषयिणी बुद्धिर्यस्य स तथा । मनसः खेदयुक्तत्वेऽपि कर्तव्यविषये उत्साहसद्भावादस्य

भामा०—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः (इति पादयोः पतति।)

(सर्वे एकतो भूमा उपविशन्ति ।)

प्रता०—अहो कोशाध्यक्षो भामाशाहः ! कथय, अपि क्षेमं ते सपरिवारस्य ।

भामा०—(पादौ गृहीत्वा) भवता परित्यक्तस्य कुतो मे क्षेमं स्यात् । (इति रोदिति)

(प्रतापः किञ्चिद्विचारयन्निव मौनमास्थितः ।)

चन्दा०—कोशाधिपते ! इदानीं कमलासंकोचवशादप्रतिपालित-चतुरङ्गसैन्यचक्राः स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थं सिन्धु-प्रान्ते जिगमिषवो महाराणाः प्रतापाः तदनुगामिनो वयं च ।

भामा०....महाराज ! युष्मदीयकोशे चतुष्कोटिपरिमितं धन-मस्ति ।

शौर्यशालित्वं द्योत्यते । असौ प्रतापः हृदा-मनसा विचारयन्निव मन्दं मन्दं व्रजति । प्रायशो विचारदशायामेवमेव पुरुषश्चलतीति भावः ॥८॥

कमलेति । इदानीमस्मिन् काले आपत्तिदशाया कमलाया-लक्ष्म्याः संकोचवशात्, अप्रतिपालितो द्रव्यादिदानेन न स्वायत्तीकृतश्चतुरङ्गसैन्य-चक्रश्चतुरङ्गसैन्यसमूहो यैस्ते एवंविधा महाराणाः प्रतापाः । अथ चेदानीं वसन्तश्चतौ कमलानामसंकोचवशात् सिन्धुप्रान्ते तत्र कमलाना बाहुल्ये-नोपलब्धेः स्वातन्त्र्येण तत्र कालयापनार्थम्, अथ च स्वतन्त्रताया अधिष्ठायकदेवपूजार्थं जिगमिषवः-गन्तुमिच्छुकाः । 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उप्रत्ययः ।

अथ भामाशाहः स्वकोशद्रव्यपरिमाणं कार्यद्वारा प्रदर्शयति—प्रोद्यदिति । प्रोद्यन्ती-देदीप्यमाना कान्तिर्येषां तानि तथाभूतानि यानि प्रहरणानि तैर्लसन्तः-शोभमाना गाढा-पुष्टाः उन्नतांसाः-उत्तुङ्गाः स्फूर्जन्तः आस्फालने वज्रनिर्घोषमिव कुर्वन्तो ये भुजास्तेषां परिवृढाः

तेन

प्रोद्यत्कान्तिप्रहरणलसद्गाढपुष्टोन्नतांगो-
तुङ्गस्फूर्जद्भुजपरिवृढा धैर्यशौर्योद्धुरीणाः ।
नव्योन्मीलद्बहुलबलिनः सिद्धलक्षाः सहस्रं
पञ्चाशत्स्युस्तव भटगणास्त्रिंशदब्दान् ध्वजिन्याम् ॥९॥

प्रता०—नाहं परकीयधनेन सैन्यं साधयिष्ये ।

भामा०—महाराज ! नैतत्परकीयम्, किन्तु युष्मत्कृपापात्रैरस्म-
दीयपूर्वजै राज्यकरसंचितं युष्मदनुचरैर्विलुण्ठ्यानीत-
मिति च सर्वमपि कोशागारे निहितमिति युष्माकमेव ।

सेना०—युज्यते चैवम् ।

चन्दा०मन्त्री—एतद्युष्माकीणमेव । एतेन पञ्चाशत्सहस्रैर्वीरैर्वयं
युगपदाक्रम्य सर्वमपि रिपुबलं नाशयिष्यामः ।
स्वल्पेनैव कालेन सर्वाण्यपि दुर्गाणि परावर्त-
यिष्यामश्च ।

प्रता०—एतद्वंशपरंपरोपार्जितमित्यस्यैव सर्वम् ।

स्वामिनः तथाभूतभुजयुक्ता इत्यर्थः । तथा धैर्यशौर्ययोः उत् ऊर्ध्वं यथा स्यात्तथा धुरं वहन्तीति धैर्यशौर्योद्धुरीणाः, नव्या नवीनयुवावस्थोपेताः, यद्वा-नव्य-नवीनं यद् उन्मीलद् बहुलबलं तदस्ति येषां ते । यद्वा नव्याः उन्मीलन्तः उत्साहयुक्ता बहुलबलिन अनेकसहस्रयोधिनः । तथा सिद्ध-लक्षाः, सिद्धं लक्षं येषां ते । अप्रतिहतबाणशक्तय इत्यर्थः । एवंभूता-पञ्चाशत्सहस्रं भटगणाः त्रिंशदब्दान्—त्रिंशदब्दपर्यन्तं 'कालाध्वनोर-त्यन्तसंयोगे' इति द्वितीया । तव ध्वजिन्यां—सेनायां स्युः । पूर्वं दशसहस्रै-रेव भटैर्युतो भवान् विजितप्राय आसीत्, इदानीं तु पञ्चाशत्सहस्रैर्भ-टैर्युतो भवानवश्यं विजेष्यते इति भावः ॥ ९ ॥

युज्यते इति । सेनापतिभिर्विलुण्ठ्यानीतमित्यवगत्य युज्यते इत्यनेन राज्ञः प्रतापस्यैवेदमिति समर्थयति ।

अथ भामा इतिकर्तव्यतां बोधयति—यवनेति । यवनस्य—यवनराज्य-स्य भवद्गमनानन्तरम् अधिगतौ-सर्वत्रैव प्राप्तौ सत्यां विनाशे ध्रुवे—

भामा०—अस्माकं भवेदेतद्, युष्माकं वेति विवादः परिहीयताम् । एतत्स्वातन्त्र्यदेवपूजार्थं भवत्पादे निधीयते । यदि भवानेतन्न स्वीकरोति तदाऽहमनशनेन प्राणांस्त्यक्ष्यामि ।

यवनाधिगतौ ध्रुवे विनाशे
सुखपूर्वेण कथं न तं विदध्याम् ।
यदि वः करुणालवोऽपि शिष्टो
रिपुमास्कन्ध्य तदा प्रजा भजध्वम् ॥१०॥

मन्त्री—महाराज ! भवदर्थमेतन्माऽस्तु । परं विधर्मिभ्यः प्रजानां धर्मरक्षार्थमेतद्दीयते । अयमपि भवदीय एव । अन्यथाऽयं प्राणांस्त्यक्ष्यतीति स्वीक्रियताम् ।

प्रता०—(भामाशाहस्य बाहुं गृहीत्वा) कोशाधिपते ! स्वातन्त्र्यदेवताराधनार्थमेतत्स्वीकरोमि । एतेन मेवाडे चिरस्थायिनीं स्वतन्त्रतां स्थापयिष्यामि ।

भामन्—उप्ता या चलिना लता हरिपदे सत्ये युगे स्वाध्वरे
सिक्ता सा शिविना दयासलिलतस्त्रेतायुगस्यान्तरे ।

निश्रिते सति । न खलु तद्राज्ये विधर्मिसंसर्गेण वयं जीविष्यामः इति निश्चये सति सुखपूर्वम् तमात्मनो विनाशं कथं न विदध्याम् । अवश्यमेव सुखपूर्वमेव *अनशनादिना आत्मत्यागः कर्तव्य इत्यर्थः । यदि वः*—युष्माकं करुणाया लवोऽपि अणुमात्रसम्बन्धोऽपि शिष्टः अस्ति । यदि मादृशस्य जनस्य रक्षणे वः हृदये दयाऽस्ति तदा रिपुमास्कन्ध्य युद्धोद्योगेनेति भावः, प्रजाः भजध्वं-सेवध्वम्, प्रजारक्षणं तत्सेवैवेति भावः ॥ १० ॥

अयमीपति । अयमेतल्लक्षणो जनः ।

अथ प्रतापो लतारूपकद्वारेण तद्दानं दर्शयति—उप्तेति । या दानस्वरूपा लता बलिना हरिपदे-विष्णोश्चरणे स्वदेहस्यापि दानेन त्रिपदीमात्र-

कर्णः पल्लवितां विधातुमभवच्छक्तश्च तां द्वापरे
सेयं साध्वमृतैः कलौ फलवती भाम्ना त्वया साध्यते ॥११॥

मन्त्री—भामन्! लोकोत्तरमिदं ते दानकर्म।

यतः—लोके ख्यातिधिया ददाति कुशलः कश्चित्स्वकान्भावय-
न्नन्यः स्वर्गसुखाय वेदविदुषे दत्ते स्वलाभेच्छया।
राज्ञो रोषभिया परोऽपि ददते स्वोपायनं बोधयन्
द्वित्राः सन्ति नवा क्वचित्तव समा यच्छन्ति ये निःस्पृहाः॥१२॥

पृथिव्या दानेन स्वाध्वरे-स्वकीययशे सत्ये युगे उप्ता—बीजरूपेण आरोपिता, सा शिविना—तन्नामकेन राज्ञा त्रेतायुगस्य अन्तरे—त्रेतायुगमध्ये दया-सलिलतः—दयारूपसलिलेन सिक्ता, कर्णो द्वापरे तां लतां पल्लवितां—पल्लवयुक्तां च विधातुं शक्तः समर्थः अभवत्, सा इयं प्रत्यक्षतया विद्यमाना दानरूपा लता अमृतैः अयाचितैः 'अमृतं स्यादयाचितम्' इति मनुः। 'द्वे याचितायाचितयोर्यथासंख्यं मृतामृते' इत्यमरश्च। साधु सम्यक् प्रकारेण कलौ भाम्ना त्वया फलवती—फलयुक्ता साध्यते। अधुना दान-लता फलवती याता। बलिना सार्द्धत्रिपदीमात्रपृथिव्या दाने सर्वस्व दत्तं, परं तु सर्वस्वदाने पूर्वत एव नाध्यवसायः आसीत्। एवं शिबिनाऽपि स्वल्पेनैव कार्यं सेत्स्यतीति ज्ञात्वा स्वल्पं स्वमांसं ददता बहुतरं स्वमांसं दत्तम्। कर्णोऽपि कवचकुण्डलादिदानेन स्वर्गसुखाध्यवसाययुक्त आसीत्। त्वं तु अयाचितं सर्वस्वमेव ददासीति निलक्षणं सर्वोत्तमं ते दानमिति भावः, अत एव त्वया दानलता फलवती कृतेत्यर्थः ॥११॥

अथ मन्त्री भामानं कथयति—लोके इति। कश्चित्कुशलः लोके-संसारे, ख्यातिधिया—स्वप्रसिद्धिबुद्ध्या, स्वकान्स्वकीयान् भावयन् अयम-स्मदीय इति चिन्तयन्नेव ददाति। अन्यः स्वर्गसुखाय एतद्दानेन स्वर्गसुखं भविष्यतीति स्वलाभेच्छया—आत्मलाभकाङ्क्षया वेदविदुषे विप्राय दत्ते। दानफलस्यात्मगामित्वादात्मनेपदम्। परोऽपि तदतिरिक्तोऽन्योऽपि राज्ञो रोषभिया स्वोपायनं बोधयन् इदमुपायनं दीयते इति कथयमानः राज्ञे यद्ददा तदपि राज्ञो रोषभयादेव ददाति न तु स्पृहाशून्यत्वेनेत्यर्थः। तत्र समाः—तत

भामा०—इयं महती भवतामनुकम्पा, यदेतेन सर्वानप्यस्मान् विधर्मियस्त्रायन्ते भवन्तः।

प्रता०—सेनापते! त्वं तावत्पञ्चाशत्सहस्राणि वीरभटान्सज्जीकृत्य पञ्चधा विभज्य आक्रमस्व। अमरसिंह! त्वमपि गुहसहितो म्लेच्छसैन्यं विनाशय। अहमपि तिर्यग्मार्गेणाक्रम्य मानं निग्रहीष्यामि।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयन्ति भवन्तः (इति तथा कर्तुं निष्क्रामति। अमरसिंहोऽपि उपमन्त्रिसहितो निर्गच्छति। प्रतापोऽपि मन्त्रिरक्षाय कलत्रादिकं परित्यज्य निष्काम्यति)

(पटोन्नयनम्)

(आगरायां मन्त्रिद्वितीयः स्थितोऽकबरश्चिन्तयति।)

अक०—मन्त्रिन्! श्रूयते अधरवः प्राणपणेन मानः प्रतापं निग्रहीतुमभिलषति।

मन्त्री—संभाव्यते अपमानभिया मानस्तथाऽऽचरितुं सन्नद्धः स्यात्, परं तु प्रतापोऽपि प्रताप एव।

क्वासौ प्रताप. क्व च वः प्रतापः
क्व भिल्लरक्षयः क्व बलं भटानाम्।
क्व तस्य यत्नः क्व चमूप्रयत्न—
स्तथापि निघ्नत्वमयं न याति॥ १३॥

सदृशाः 'तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्' इति षष्ठी। द्वित्राः-द्वौ वा त्रयो वा इति द्वित्राः सन्ति नवा। द्वित्रेष्वेव सदेहः, अधिकाना तु कथैव का? ये निःस्पृहा-सर्वथा आकाङ्क्षारहिता यच्छन्ति-ददति। नैकोऽपि त्वत्सदृशो नि.स्पृहो दातेति भावः॥ १२॥

मन्त्री प्रतापस्य साधारण्येपि लोकातिशायित्वं दर्शयति—क्वासाविति। असौ साधारणोऽस्मदादिग्राह्यः प्रताप. क्व, वः युष्माकं प्रतापः ऐश्वर्यं क्व। पूर्वत्र असावित्येकत्वेन तस्य तुच्छत्वम्, वः इत्यत्र बहुत्वेन युष्मदैश्वर्यस्य लोकातिशायित्वेन च तुल्यतायामन्तरातिशयो बोध्यते। भिल्लेन भिल्लैर्वा भिल्लजातीयैर्वा रणकलाशून्यैरशिक्षितै रक्षयः क्व।

अक०—श्रूयते मेवाडं परित्यज्यासौ सिन्धौ प्रयात ।

मन्त्री—यद्येवं भवेत्तदा दूरोत्सारितस्तव कण्टकः स्यात्पर विजिगीषूणां बहुविधा प्रकारा भवन्ति । न जाने किमप्यस्य प्रयाणे रहस्य स्यात् ।

(तत प्रविशति मानसिंह ।)

मान० —विजयतां विजयतां महाराज. ।

अक०—क्व गतोऽसौ प्रताप. ?

मान —मेवाड परित्यज्त सिन्धौ प्रयात इति श्रूयते ।

अक०—दूरोत्सारित कण्टको विनाशित एव । यतः स्वयमसौ प्रचण्डतरमार्तण्डप्रखरकरोत्तापितस्य सलिलानुपलब्धिविशुष्कतालुरसनाकण्ठोष्ठमुखविवरस्य पुत्रकलत्रादिसफलकुटुम्बस्य नाशे विनष्टो भविष्यति ।

मन्त्री—सर्वमपि युज्यते । परमसौ विजिगीषोरिव कदाचित्प्रकार स्यादित्यपि सभाव्यते एव ।

एकाकी स्वयल विहाय सहसैवाक्रम्य शत्रोश्रमं
मुक्त्वा तां च पलायितो यदि भवेद् हृद्य ततो मीयते ।

एतेन सुगमतया तस्य ग्राह्यत्व सूच्यते । व युष्माक भटाना-योधाना बल-सैन्य सामर्थ्यं या क्व । एतदपि सामानाधिकरण्य नैव घटते । अथ च तस्य एकाकिन प्रतापस्य यत्न क्व । व युष्माक चम्वा सेनाया प्रयत्न क्व । तत्र तु एकस्यैव यत्नः इह तु सेनाया इत्यनेनासख्यातसैनिकाना प्रयत्न, तत्र तु यत्न एव । इह तु प्रयत्न , प्रकृष्टो यत्न इति सर्वथा तद्ग्रहणे सुकरत्व बोध्यते । व इत्यनेन सह चम्वा नित्यसाकाड्क्षत्वात् देवदत्तस्य गुरुकुलमितिवत्समास । तथापि सर्वथा तद्ग्रहणस्य सुकरत्वेऽपि अय प्रताप निघ्नत्व व युष्माकमधीनता न याति । नाद्यापि त्वदधीनतामय प्राप्नोतीति भावः ॥ १३ ॥

मन्त्री प्रतापस्य सिन्धौ गमने किञ्चिद्रहस्यमेवेति दर्शयति-एकाकीति । कश्चिद्वीर स्वबलं-स्वसैन्य विहाय ततो निष्क्रम्य सहसैव शत्रोश्रमं

वीरः कातरवत्त्यजन्निजभुवं काञ्चित्क्रियामीहते
दुर्ज्ञेयं विदुषो नटस्य कृतिवत्कृत्यं जिगीषोरिदम्॥१४॥

मानः—एवमपि संभाव्यते, परं तु प्रतापस्तु पलायित एव।

मन्त्री—अहमभिलषामि, सत्याः सन्तु ते गिरः।

(ततः प्रविशति सेनातः समायातश्चरः।)

चरः—जेदु जेदु महाराओ।
जयतु जयतु महाराजः।

अक०—कुत्र प्रतापः पलायित इति कश्चिदुदन्तः समागतः?

चरः—किण्णु खलु तस्स उदन्तस्स कहा, सव्वं चेव णट्ठं।
किन्तु खलु तस्योदन्तस्य कथा, सर्वमेव नष्टम्।

अक०—किं प्रतापकुटुम्बम्?

चरः—णहि णहि तुम्हाणं बलम्।
नहि नहि युष्माकं बलम्।

अक०—किमसौ कथयति?

चरः—सव्वं सच्चं चेव कहेमि।
सर्वं सत्यमेव कथयामि।

अक०—केनास्मद्बलं विनाशितम्?

चरः—ससेण्णेन पदावेण विस्सओ क्कमियं पुणो।
ससैन्येन प्रतापेन विश्वत आक्रमितं पुनः।
तुह चेय बलं सव्वं णासिअं खणमत्तओ॥ १५॥
तव चैव बलं सर्वं नाशितं क्षणमात्रतः॥ १५॥

भाक्रम्य ताम् आस्कन्द्य पुनस्तं शत्रुसैन्यं च मुक्त्वा परित्यज्य यदि पलायितो भवेत् एवं दशा यदि भवेत् ततस्तदनन्तरं तदा वा हृदयमनुमीयते। अस्त्यत्र किमपि रहस्यम्, यस्मादेवमसौ विदधातीत्यनुमीयते। वीरः-प्रतापः, कातरवत् निजभुवम्-आत्मपृथ्वीं त्यजन् काञ्चित् क्रियामीहते। विजिगीषोरिदं कृत्यं विदुषो नटस्य ऐन्द्रजालिकस्येत्यर्थः कृतिवत् दुर्ज्ञेयम्। दुःखेन प्रयत्नेन ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः॥ १४॥

अक०—(मानाभिमुखं पश्यन्) किमसौ ब्रवीति ? अये किमिदं सत्यं ब्रवीषि ?

चरः—सव्वं सच्चं चेव। कहं खु अम्हारिसो मिच्छा कहिस्सइ।
सर्वं सत्यमेव। कथं खलु अस्मादृशो मिथ्या कथयिष्यति।

(ततः प्रविशति वैरामसेनापतिप्रेषितश्चारः।)

से० चारः—(सहसोपसृत्य) जयतु जयतु महाराजः। हा सर्वेऽपि हताः।

अकबर—कथम् ?

से० चारः—सहसा प्रतापसैनिकैराक्रम्य सर्वेऽपि ते सैन्यभटा विनाशिताः, न जाने कुतस्तदसंख्यातं सैन्यमायातम्। (पुना रुदन् पादयोर्निपत्य) महाराज ! युष्मत्सेनापतेः पत्नी युष्माकं धर्मभगिनी सखीभिः सहितैव प्रतापभटैर्निगृहीता।

अक०—कथमिदमश्राव्यं शृणोमि ?

(स्वगतम्)

स्वसा मदीयैव करे रिपोर्गता गतैव मे मूर्तिमती यशस्विता।
न चास्ति तस्याः पुनराप्तिकारणं जितोऽहमेतेन निपातितः पदे॥१६॥

(प्रकाशम्) कथं सा निगृहीता ?

से० चारः—प्रतापभटैः सहसाऽऽक्रम्य सकले युष्मत्सैन्ये विनाशिते आरक्षकरक्षिता सखीभिः सममागच्छन्ती सेनापतेः पत्नी मार्गे एकाकिना गुहेनाक्रम्य अन्तरैव निगृहीता, आरक्षकाश्च विनाशिताः।

अकबरः स्वहृदये विचारयति-स्वसा इति। मदीयैव ननु सम्बन्धिनोऽन्यस्य वा स्वसा-भगिनी रिपोः प्रतापस्य करे हस्ते गता। यद्वा-मदीया स्वसैवेति सम्बन्धः। तथा च मे-मम मूर्तिमती साक्षान्मम स्वसृरूपेण देहधारिणी यशस्वितैव गता। तस्याः पुनः प्राप्तिकारणं पुनरागमनहेतुर्न चास्ति नैवास्तीत्यर्थः। एतेन कारणेन जितः अहं पदे निपातितः, जितोऽप्यहं पदे निपातनात्सर्वथा पराजित एवेत्यर्थः। यद्वा-अहमेतेन जितः, पदे निपातितश्च ॥ १६ ॥

अक०—(गुहं लक्षीकृत्य आकाशे) साधु भिल्लराज ! साधु ।
कश्चिद्वेतनलाभतो रणभुवं वीरः समागच्छति
क्षेमं चाभिलपन् स्वकीयममितो भूपात्परो वाञ्छति ।
अन्यः पूर्वसुखोपभुक्तविषयो भोगाशयैवेहते
कोऽन्यस्त्वत्सदृशः प्रभोः परमया भक्त्यैव यः सेवते ॥१७॥
(मनसि)
यद्वा सर्वमपीदमस्मद्दुर्विलसितस्य फलमुदयते ।
चिकीर्षते यद् दुरितेन पूरुषस्तदेव तत्पापफलेन सृज्यते ।
परस्य वाञ्छन्नशुभं प्रहिं खनन् पतत्यसौ तत्र विधेर्विलासतः॥१८॥

अथ अकबरो गुहं भिल्लराजं लक्षीकृत्य कथयति—कश्चिदिति । कश्चिद्वीरः वेतनलाभतो–मासिकवृत्तिलाभात्, रणभुवं–संग्रामभूमिं, समागच्छति–योद्धुं प्राप्नोतीत्यर्थः । परः–कश्चिदपरश्च, अमितः–सर्वतोभावेन, स्वकीयं क्षेमम्–आत्मकल्याणं, भूपात्–राज्ञः सकाशाद्, अभिलपन्–इच्छन्सन् रणभुवं वाञ्छति–तत्र योद्धुं गच्छतीत्यर्थः । पूर्वं प्रथमं सुखेन उपभुक्तो विषयः सर्वविधोऽभिलाषो येन स तथाविधः अन्यः कश्चिद्वीरो भोगाशयैव भोगतृष्णयैव रणभुवम् ईहते–तत्र संग्रामभूमौ गन्तुं चेष्टते । त्वत्सदृशो–ऽन्यः कोऽस्ति यः प्रभोः स्वस्वामिनो राज्ञः परमया–उत्कृष्टया केवलया वा भक्त्यैव रणभुवं सेवते । वेतनलाभादिनिरपेक्षः सन् यस्त्वं संग्रामभूमिं सेवसे एषा ते अलौकिकी स्वामिभक्तिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

अथ स्वकीयं कर्म विचारयन् कथयति—चिकीर्षत इति । पूरुषः यत्कर्म दुरितेन–पापकर्मणा हेतुना, चिकीर्षते–अन्यस्मै कर्तुमिच्छति, तदेव कर्म तत्पापफलेन–तस्य कर्मणः पापफलोदयेन सृज्यते–स्वत एव उत्पद्यते इत्यर्थः । सृजिरकर्मको दैवादिकश्च । तदेव दृष्टान्तेन समर्थयते–परस्य–अन्यस्य अशुभमनिष्टं वाञ्छन्–अभिलषन् प्रहिं– कूपं खनन् । अमुकः पुरुषः अत्र कूपे पततु इत्यभिलाषेण कूपं खनन् असौ कूपखनकः पुरुषो विधेर्ब्रह्मणः प्रारब्धस्य वा विलासतः तत्र कूपे पतति । मया तत्कुलनमहरणेन तज्जयार्थं प्रयत्नो विहित इति ममैव सेनापतेः कलत्रं गृहीतमित्यहं पराजितश्चेति भावः ॥ १८ ॥

(पुनः स्मृत्वा) आः ! दारुणोऽपमानसंतापः ।

नो शान्तिः कथमप्युपैति मनसो दुःखं समुज्जृम्भते
　　चित्तं चोद्विजते त्रपाभरवशादात्मा क्षितौ लीयते ।
अस्मत्सैन्यपतेर्वधूः सतनया वन्यैर्यतो गृह्यते
　　तस्मादेव मया स्वकीयविजये वाञ्छा परित्यज्यते ॥१९॥

(पुनर्विमृश्य) अलं कातर्येण, तासामुद्धारः कर्तव्यः ।

(पुनः) किमसौ मानस्तेनेदानीं मिलितः यन्मां प्रतारयन् योग्यान्मे भटान्नाशयति, किं वा तद्गतिमवगत्य स्वयमेव पलायितः ।

(प्रकाशम्) मानसिंह ! किमिदं जातम् ?

मानः—अस्मदागमनानन्तरं वार्षिकमण्डूकवन्न जाने कुतस्तत्सैन्यं संजातम् ।

आः इत्यत्यन्तदुःखपरामर्शे । अपमानसंतापः दारुणः, अत्यन्तदुःखजनकः । तदेव दर्शयति—नो शान्तिरिति । कथमपि आमोदप्रमोदादिना केनापि उपायेनापि मनसश्चित्तस्य शान्तिर्नो नैव उपैति चित्तस्य शान्तिर्न प्राप्नोतीत्यर्थः । दुःखं समुज्जृम्भते—उद्वेगं प्राप्नोतीत्यर्थः। तथा त्रपाभरवशात्—लज्जाया आधिक्यात्, आत्मा क्षितौ—पृथिव्यां नाशे वा लीयते—कथमहं मृतः स्यामिति विचारेण पृथिव्यां लीनो भवतीत्यर्थः । तत्र हेतुं दर्शयति—यतो यस्मात्कारणात् अस्मत्सैन्यपतेः वैरामनामकस्य मम सेनापतेः वधूः सतनया—तनयया सहितेति सतनया कन्यायुक्ता वन्यैर्वनचरैः प्रतापसैनिकैर्गृह्यते, तस्मादेव कारणात् मया स्वकीयविजये वाञ्छा परित्यज्यते—अहं विजेष्ये इत्यभिलापः सर्वथा परित्यज्यते । यः स्वपक्षियः कलत्रमपि रक्षितुं न शक्नोति स कथं शत्रुं जेष्यतीति भावः ॥ १९ ॥

नोट १—'खघथधभा हः' इति भकारस्य हकारे, 'कगचजतदपयवां प्रायो लोपः' इति पकारलोपे 'शेषं संस्कृतात्' इत्युक्तेः, 'आद् गुणः' इति गुणे 'लाहोर' इति सिद्धम् । यत्तु 'लवपुराल्लाहोर इति निष्पद्यते' इति कैश्चिदुद्घुष्यते तत्तेषां प्राकृतव्याकरणानभिज्ञताया विजृम्भणमेव ।

(ततः प्रविशति लाभपुरादायातश्चारः ।)

चारः—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—किमस्ति ?

चारः—महाराज ! लाभपुरसामन्तो युष्माकं परिपन्थी संजातः, स चाक्रामन्नित एवाभिगच्छति ।

अक०—अपमानो मया पूर्वमश्रावि दृपदात्मना ।
इदानीं श्रूयते राज्यच्छेदोऽपि किमतः परम् ॥२९॥
कथय अन्यदपि यदनिष्टं स्यात्, हृदयमवलम्ब्य सर्वमपीदानीं श्रोतुं सन्नद्धोऽस्मि ।

(पुनर्विमृश्य)

सेनापतेराप्तकुटुम्बवर्गं पूर्वं रिपोः किन्नु समुद्धरेयम् ।
किं वा द्विषन्तं कलयेऽभियान्तं सामन्तमेनं खलु दण्डयेयम् ॥२०॥

परं नेदानीं कालातिपातः कर्तव्यः । उभयमपि संपादनीयमेव ।

अथ अकबरो राज्यस्य मध्ये एव समुत्पन्नं विद्रोहाग्निमाकर्ण्य कथयति—अपमान इति । पूर्वं-प्रथमं दृपदात्मना मया पाषाणवदात्मानं-विधाय अपमानः अश्रावि-श्रुतः । इदानीम् अधुना राज्यच्छेदोऽपि श्रूयते । लाभपुराधिपतिः स्वतन्त्रो जात इति तावन्मात्रं विच्छिद्यत इति भावः । अतः परं किम्—अतः परमधिकमनिष्टं किम् । न किमपीत्यर्थः ॥ २० ॥

पुनर्विमृश्य कथयति—सेनापतेरिति । पूर्वं-प्रथमं, सेनापतेः बैरामनामकस्य सेनानायकस्य, आप्तं-श्रेष्ठं व्यभिचारादिदोषशून्यं, कुटुम्बवर्गं-कलत्रसुतादिकं, रिपोः सकाशात्समुद्धरेयम् । किन्नु इति वितर्के । किं वा द्विषन्तं—द्वेषं कुर्वन्तं कलये-संग्रामाय अभियान्तम्—अभिमुखमागच्छन्तम् एनं-लाभपुरसंबन्धिनं सामन्तं दण्डयेयम् ॥२१॥

उभयमपि संपादनीयमेवेति सिद्धान्तः ।

अथ अकबरः शाहबाजनामानमपरं स्वसैनिकं समाज्ञापयति—ससूनुमिति । सूनुना-पुत्रेण सहितं, मदेन-अभिमानेन दुर्विदग्धम् आत्मशौर्याभिमानिनं, मलिम्लुचं-चौरं, द्विषन्तं-मया सह द्वेषं कुर्वन्तं, खलप्रियं-

[illegible] सप्रुतां ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे [illegible]। मा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु।

[illegible]—

[illegible] निर्जने सञ्चरन्तीं
बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम्।
[illegible] स्वां शोभनां साधयन्तीं
[illegible] पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥ ३ ॥

[illegible]—[illegible] देव। (इति निष्क्रान्तः।)

(ततः प्रविशति प्रधानसेनापतिः।)

[illegible]—जयतु जयतु महाराजः।

[illegible]—किमिदं किंचिदवशिष्टम्?

सेना०—[illegible] अवशिष्यते। चित्रपुरदुर्गं विहाय सर्वाण्यपि दुर्गाणि भवदाधिपत्ये समागतानि। सर्वेष्वपि दुर्गेषु [illegible] ध्वजाः समारोपिताः।

[illegible]—चित्रपुरदुर्गविजये कियत्कालं प्रतीक्षितव्यम्?

सेना०—[illegible] वयं चित्रपुरदुर्गं विजेष्यामहे, [illegible] उत्साहवती चास्माकं सेना।

[illegible] वर्णनमुपैतवे—परनिन्दामिव परस्त्रिया [illegible] नैव निजस्तोत्रमर्थः ॥ २ ॥

[illegible] प्रतिपेषयति—परपुरुषेति। [illegible] पुरुषैः अथवा परैः—[illegible] पुरुषैः [illegible]युक्ताम्। निर्जने—जनसंचारादिरहिते [illegible] सह परिभ्रमन्तीमित्यर्थः। बहिरपि च—स्वगेहा-[illegible]
अन्यगेहे-अन्यस्य

(ततः प्रविशति शाहबाजः)

शाह—जयतु जयतु महाराजः ।

अक०—त्वं यथेच्छं सैन्यं सज्जीकृत्य प्रतापं निगृह्णीयाः ।

ससूनुमेनं मदुर्विदग्धं मलिम्लुचं क्षीणबलं द्विषन्तम् ।
खलप्रियं याचकवद् भ्रमन्तं निहत्य तस्य प्रमदां हरध्वम् ॥२२॥

संभावयाम्येवं कृतौ साम्यसंपादने स्वान्ते शान्तिः स्यात् । मानसिंह ! त्वमपि स्वसैन्यं सज्जीकृत्य लाभपुरसामन्तमुपशमय, अहमपि देहलीपत्तने राज्यस्थानपरिवर्तनं विधाय अनुपदमेव सज्जितसैन्यः समेष्यामि ।

मन्त्री—महाराज ! कस्मादिदं राज्यस्थानपरिवर्तनं क्रियते ?

अक०—कदाचिद्विपृद्धः प्रताप आक्रामन्ननार्यमाचरेत् ।

मन्त्री—इदं तु नैव संभाव्यते, परं तु अनिष्टसंभावनया पूर्वतस्तथा करणे न काचित्क्षतिः ।

(ततो मानप्रभृतयस्तथा कर्तुं निष्क्रामन्ति ।)

अक०—दौवारिक ! अहमिदानीं विश्रान्तिमभिलषामीति विश्रान्तिस्थानमादेशय ।

दौवा०—इदो आगच्छदु महाराओ ।

इत आगच्छतु महाराजः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

इति श्रीमहामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वीरप्रतापनाटके षष्ठोऽङ्कः ।

खलाना-दुष्टाना प्रियं, खलः प्रियो यस्येति वा । याचकवद्–भिक्षुकवद्, भ्रमन्तम्–इतस्ततो गच्छन्तम्, एन–प्रताप, निहत्य तस्य–प्रतापस्य, प्रमदा–स्त्रिय, यूय हरध्वम् । अत्र आदरार्थत्वाद्बहुवचनम् ॥ २२ ॥

इति श्रीमहामहोपाध्यायमथुराप्रसादकृतौ वैजयन्तीटीकायां षष्ठोऽङ्कः समाप्तः ।

सप्तमोऽङ्कः ।

पटोन्नयनम्

(इहोपत्यकायां मन्त्रिद्वितीयः स्थितः प्रतापः परामृषति)

(ततः प्रविशति म्लेच्छराजसेनापतिपत्नीमादाय उपसेनापतिसहितो गुहः ।)

उपसेनापतिः—

या ऽस्माकं करपञ्जरे निपतिता त्वद्वैरिसेनापतेः
कान्ता कान्तपदारविन्दवदना बन्धूकबिम्बाधरा ।
खेलच्चञ्चलखञ्जरीटनयना कुन्देन्दुमन्दस्मिता
सेयं त्वच्चरणागता कृतिविधावाज्ञां समुद्वीक्षते ॥१॥

प्रतापः—अलं परदारवर्णनेन ।

शिशोदियाकुलोद्भूतः परकान्तां न वीक्षते ।
परापवादसदृशं तद्वर्णनमुपेक्षते ॥ २ ॥

येति । याऽस्माकं करपञ्जरे-हस्तरूपे पञ्जरे, एतेन सर्वथा परतन्त्रत्वं तस्या व्यज्यते । निपतिता-अनायासेन स्वयमेवागता । कान्ते-मनोहरे पदे यस्याः सा, तथा अरविन्दमिव-कमलमिव, वदनं-मुखं यस्याः सा तथा । बन्धूकं-बन्धूकपुष्पं, बिम्बं-बिम्बफलं, तद्वत् अधरो यस्याः सा तथा । खेलन्-क्रीडां कुर्वन्, चञ्चलश्च यः खञ्जरीटस्तन्नामकः पक्षी तद्वन्नयने यस्याः सा, 'न क्रोडादिबह्वचः' इति ङीष् निषिध्यते । कुन्देन्दु-वत्स्मितं यस्याः सा तथा । सा इयं प्रत्यक्षतया उपस्थिता त्वद्वैरिणोऽकब-रस्य सेनापतेः कान्ता तव चरणयोः आगता-त्वच्चरणागता सती कृतिविधौ-कर्तव्यविषये आज्ञां समुद्वीक्षते, किमियं करोतु इति भवतामाज्ञामियं प्रतीक्षते ॥ १ ॥

अथ प्रतापः आर्यधर्मानुसारेण तद्दर्शनादिकं परिहरति-शिशोदिया इति । शिशोदियानामकक्षत्रियाणां कुले उद्भूतः-उत्पन्नः परकान्तां-परस्त्रियं न वीक्षते नैवावलोकयति । 'परदारान्नाभ्युपेयाद्' इत्यभ्युपयानं तु दूरापेतम् । शिशोदियाकुलोत्पन्नस्तु वीक्षतेऽपि नेत्यर्थः । परापवादेन सदृशं-

तस्मादधुनैव ससुतां ससखीमेनामस्याः स्वामिसविधे नयस्व। मा स्वकीयजनविरहिता रात्रावेकाकिनी तिष्ठतु।

यतः—

परपुरुषपरीतां निर्जने सञ्चरन्तीं
बहिरपि च रजन्यामन्यगेहे वसन्तीम्।
बहुविधशपथैः स्वां शोभनां साधयन्तीं
तदपि पिशुनलोकास्त्वन्यथैवाक्षिपन्ते ॥ ३ ॥

उ० से०—यथाऽऽज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः।)

(ततः प्रविशति प्रधानसेनापतिः।)

सेनापतिः—जयतु जयतु महाराजः।

प्रता०—विजेतुं कियदवशिष्टम्?

सेना०—न किञ्चिदवशिष्यते। चित्रपुरदुर्गं विहाय सर्वाण्यपि दुर्गाणि भवतामाधिपत्ये समागतानि। सर्वेष्वपि दुर्गेषु भवतां ध्वजाः समारोपिताः।

मन्त्री—चित्रपुरदुर्गविजये कियत्कालं प्रतीक्षितव्यम्?

सेना०—आज्ञासमनन्तरमेव वयं चित्रपुरदुर्गं विजेष्यामहे, परमशौर्यशालिनी उत्साहवती चास्माकं सेना।

परनि-दातुल्यं तस्याः परस्त्रिया वर्णनमुपेक्षते-परनिन्दामिव परस्त्रिया वर्णनमपि श्रोतुं नैवाभिलषतीत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ रात्रौ स्वजनरहितायास्तस्याः स्थितिं प्रतिषेधयति—परपुरुषेति। परपुरुषैः-स्वकीयातिरिक्तैः पुरुषैः, यद्वा-परस्य-शत्रोः पुरुषैः अथवा परैः-युवावस्थामापन्नैरुत्कृष्टैः पुरुषैः परीता युक्ताम्। निर्जने-जनसञ्चारादिरहिते स्थाने सञ्चरन्तीं, परपुरुषैः सह परिभ्रमन्तीमित्यर्थः। बहिरपि च-स्वगेहादतिरिक्ते स्थाने स्वग्रामातिरिक्ते स्थाने वा रजन्या-रात्रौ अन्यगेहे-अन्यस्य गेहे वसन्तीं-निवासं कुर्वतीम्। 'बहिरन्यगेहे' इदं ब्राह्मणश्रमणन्यायाद्वाऽवगन्तव्यम्। बहुविधशपथैः-दिव्याग्निप्रवेशादिभिः शपथैः स्वामात्मानं शोभनां शुद्धां पापरहितां साधयन्तीं तदपि शुद्धत्वसिद्धावपि पिशुनलोकाः-

किं म्लेच्छराजमधुनैव हरेम गत्वा
किं वाऽपि चित्रपुरमेव नयेम जित्वा ।
मानोद्धतं स्वजनमेव सदा द्विषन्तं
मानं जयेम किमु गर्वमलं चरन्तम् ॥ ४ ॥

प्रता०—सेनापते ! चित्रपुरदुर्गोऽस्माभिरुद्धर्तव्यः सगरस्तिष्ठवीत्यस्मदधिकारे एवेति मा तावच्चित्रपुरजयाय प्रयततात् । म्लेच्छराजस्य चाभिमानम् अहमेव चूर्णयिष्ये । अतः केवलं मानस्य गर्वः प्रध्वंसितव्यः, इत्यामेरं माननगरं लुण्टयध्वम्, यदि मानः समुपलभ्येत तदा सोऽपि बद्ध्वाऽऽनेतव्यः ।

सेना०—यथाऽऽज्ञापयति देवः (इति निष्क्रान्तः)
(मन्त्रिसहितः प्रतापः परिक्रामति ।)

परनिन्दका मूर्खजना अन्यथैव आचरन्ते, तां कुश्चरित्रामेव कथयन्ति । तस्माद् यथा राज्ञो स्वगेहे एवासौ गच्छेत्तथा विधातव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ सेनापतिः स्वशक्तिं प्रदर्शयन् कथयति - किं म्लेच्छराजमिति । किम् अधुनैव—अस्मिन्नेव क्षणे गत्वा म्लेच्छराज म्लेच्छाधिपतिमकबरं हरेम- हठाद् गृहीत्वा आनयेम । रुक्मिण्यीहरणादिवत्सर्वसमक्षं हठादानयनेऽपि हृधातोः प्रयोगः । किं वाऽपि चित्रपुरमेव--चित्तौर इति लोकभाषायां प्रसिद्धं दुर्गं जित्वा नयेम—आनयेम । स्वदाधिपत्यवाचकं तत्र स्वद्ध्वजारोपणं कृत्वा तदुद्घाटनकुञ्चिकामानयेमेत्यर्थः । किमु किं वा मानेन—अभिमानेन उद्धतं सदा स्वजनमेव स्वकीयक्षत्रियजातिमेव द्विषन्तं गर्वस्य मलं किट्टं चरन्त—भक्षयन्तं मिथ्याभिमानं कुर्वन्तम् ,यद्वा—अलं पर्याप्तमत्यन्तमित्यर्थः । गर्वं चरन्तं–विदधतं मानं-मानमिहं जयेम । सर्वमपि वयं कर्तुं शक्नुमः, यदेवाज्ञापयिष्यसि तदेव करिष्याम इति भावः ॥ ४ ॥

अकबरः प्रतापस्य अनिर्वचनीयां शक्तिं प्रदर्शयति--किमिति । किमिति विमर्शे । शम्भुः-एकलिङ्गेश्वरः, स्वयम् अस्य ध्वजिनीं–सैन्यं जनयति । मा मद्भक्तः पराजितः स्यादिति सेनामेव स्वप्रभावेणोत्पादयति । किं वा स्वकीयं गणं-वीरभद्रादिकं तत्रैव ध्वजिन्यामेव प्रताप-

(पटोन्नयनम्)

(किंकर्तव्यताविमूढ इव मन्त्रिद्वितीयोऽकबरश्चिन्तयति ।)

अक०—मन्त्रिन् ! इदानीं प्रतापः कामप्यनिर्वचनीयां शक्तिमापन्न इव प्रतिभाति । पश्य—

शंभुः स्वयं जनयति ध्वजिनीं किमस्य
तत्रैव वा गणमुपानयते स्वकीयम् ।
येन क्षणेन निहतो मम वीरसंघो
दुर्गाणि चाप्यधिकृतानि सपर्वतानि ॥ ५ ॥

मन्त्री—नूनमयमिदानीं दैवीं शक्तिमापन्नः । कथमन्यथैकेन सर्वानारक्षकान्निहत्य सेनापतिपत्नी बन्दीकृता ।

(ततः प्रविशति सैन्याद्यायातः सेनापतिः ।)

सेना०—जयतु जयतु देवः !

अक०—किं प्रतापेन दासीकृतास्ताः स्त्रियः ?

सेना०—शान्तं पापम् ! शान्तं पापम् ! तेन तु अनुपदमेव ताः सर्वा अपि सबहुमानं प्रेषिताः । धन्योऽयमार्यो जनः परमौदार्यसंपन्नश्च । किं बहुना—

परस्त्रियं यो मानसाऽपि नेक्षते स एव दासीं नु विधास्यते कथम् ।
चराचरं स्वप्रभया प्रकाशयन्न चार्यमोत्पादयते तमस्ततिम् ॥६॥

साहाय्यार्थं तत्सेनाशमेव उपानयते-प्रापयति । येन हेतुना प्रतापेन वा मम वीरसंघो-वीरसमूहः क्षणेन निहतो-विनाशितः । सपर्वतानि-पर्वतेन सहितानि दुर्गाणि चाप्यधिकृतानि-स्वायत्तीकृतानि । साधारणमनुष्य-सेनाया नैतत्कार्यमिति तदाशयः ॥ ५ ॥

अथ अकबरसेनापतिः प्रतापस्य सच्चारित्र्यं वर्णयति--परस्त्रिय-मिति । यः प्रतापो मनसाऽपि परस्त्रियं न ईक्षते स एव दासीं कथं नु विधास्यते । एवंविधः सच्चरित्रः कथं नु दुश्चरित्रं-दासीसंग्रहनादिकं कर्म कुर्यात् । तदेव दृष्टान्तेन समर्थयति-स्वप्रभया-स्वकीयतेजसा चराच-रं जङ्गमस्थावरादिकं सकलं संसारं प्रकाशयन् अर्यमा-सूर्यः, तमस्ततिम्-

अक०—किमिदानीमेकलिङ्गेश्वरादलौकिकीं शक्तिमापन्नोऽयम् ?

सेना०—युक्तं संभाव्यते ।

न पक्षपातान्न रणाद्भिया वा वैराग्यतो वा न च बोधयामि ।
किं तु त्वदीयं कुशलं प्रपद्ये प्रतापतः प्रार्थनयैव सन्धेः ॥ ७ ॥

किञ्च—दैवीं महाशक्तिमसौ प्रपन्नो
विवर्द्धमानः किमिहापि यायात् ।
क्रुद्धः स चाक्रम्य तदाचरेद् य-
न्न वाच्यमेतत्परिभावनीयम् ॥ ८ ॥

अन्धकारपरंपरां गाढान्धकारमित्यर्थः । न च नैव उत्पादयते, पुण्यात्मा प्रतापः पापकर्म नैवाचरतीति भावः ॥ ६ ॥

अथ सेनापतिरकबरस्य प्रतापे आश्चर्यातिशयमवलोक्य सन्धि प्रस्तुते—न पक्षपातादिति । अहं पक्षपातान्न बोधयामि, प्रतापस्य माहात्म्यार्थं नैव कथयामीत्यर्थः । वा-अथवा रणात्संग्रामाद् भिया-भयेन न बोधयामि । वा अथवा वैराग्यतः संग्रामे हिंसाद्यवलोकनेन तदुपरामाद् न च नैव बोधयामि । किन्तु त्वदीयं कुशलं-कल्याणं प्रतापतः सन्धेः प्रार्थनयैव प्रपद्ये-अवगच्छामि । एतत्त्वत्कल्याणार्थमेव सूचयामीत्यर्थः । बौद्धकृतापादानत्वविवक्षया प्रतापतः इत्यत्र पञ्चमी ॥ ७ ॥

अथ सन्ध्यकरणे अनिष्टं दर्शयति—दैवीमिति । असौ प्रतापः दैवीं-लोकोत्तरां देवताप्रसादजन्यां महाशक्तिं संहारादिकारिणीं-महतीं शक्तिं प्रपन्नः प्राप्तः विवर्द्धमानः क्रमेण त्वदीयराज्यमाक्रामन्, किमिति वितर्के कदाचिदिहापि त्वन्नगरेऽपि यायात्प्राप्नुयात् । संभावनायां लिङ् । स च तदा तस्मिन्समये क्रुद्धः सन् आक्रम्य-त्वदुपरि आक्रमणं विधाय यद् आचरेत् । 'जातुयदोर्लिङ्'इति लिङ् । एतन्न वाच्यम्, अमङ्गलत्वान्मया नैतदुच्यते, किन्तु परिभावनीयमेवैतत् । स चाक्रम्य त्वां हनिष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

मन्त्री—महाराज ! बाढमयमनिर्वचनीयां शक्तिमापन्नः । पश्य—

य: प्रत्यर्थिविराडरण्यदहने प्रोद्यद्दवाग्नीयते
य: क्रूरारिगजेन्द्रवृन्दहनने क्रुध्यन्मृगेन्द्रायते ।
य: कौटिल्यकलातमिस्रहरणे भास्वत्प्रकाशायते
सोऽयं पूर्णबल: प्रतापविजय: शश्वद् विजृम्भायते ॥९॥

तस्मादसौ सन्धिप्रार्थनया शुद्धमनसा भवता शमयितव्यः ।

अक०—यथा युवयोरनुमतिः (मसीं पत्रं चानाय्य सन्धिपत्रं लिखति । स्वकीयमुद्रयाङ्कितं विधाय तत्रैव स्वकीयेन स्थितेन अनुचरेण प्रतापसविधे प्रेषयति ।)

(इति पत्रं गृहीत्वा स निष्क्रामति ।)

पटोन्नयनम् ।

(इहोपत्यकायां कतिचित्स्वसामन्तसहितः प्रतापः सानन्दं परामृशति ।)
(ततः प्रविशति वीणां वादयन्ती प्रतापविजयं गायन्ती योगिनी ।)

योगिनी—

हर हर जय जय देव !
जय प्रताप ! जय भारतभूषण जय वसुधाधिप ! देव !

अथ मन्त्री तमेव सन्धिप्रस्तावं समर्थयितुं पूर्वं तत्प्रशंसामाह-य इति । य: प्रताप: प्रत्यर्थिनो-विपक्षा ये विराजः-क्षत्रियाः 'बाहुजः क्षत्रियो विराड्' इत्यमरः । ते-एव अरण्यानि-वनानि तेषां दहने-सर्वथा नाशने प्रोद्यन्-देदीप्यमानो यो दवाग्निस्तद्वदिव आचरतीत्यर्थः, विपक्षक्षत्रियाणां नाशकः । तथा क्रूराः-क्रूरप्रकृतिकाः ये अरयः-शत्रवस्ते एव गजेन्द्राः-श्रेष्ठगजास्तेषां वृन्दस्य-समूहस्य हनने क्रुध्यन्-क्रोधयुक्तो यो मृगेन्द्रः-सिंहस्तद्वदिव आचरतीत्यर्थः । तथा कौटिल्यस्य-कुटिलताया या कला सैव तमिस्रमन्धकारस्तस्य हरणे-दूरीकरणे, भास्वतः-सूर्यस्य यः प्रकाशस्तद्वदिवाचरति । यथा सूर्यप्रकाशे अन्धकारो नैव तिष्ठति एव-मेवास्य समक्षं कौटिल्यकलाऽपि नैव तिष्ठतीत्यर्थः । स अयं प्रतापविजयः शश्वत्-निरन्तरं विजृम्भायते क्रमशः वर्धते एवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

हर हर जय जय देव !
जय जय धर्ममार्गपरिरक्षक ! जय मर्यादाभूप !
जय शिशोदियावंशविभूषण ! जय हरिहरप्रतिरूप !
हर हर जय जय देव !
जय यवनाधिपमानविमर्दक ! जय जयविजयमहेश !
जय तुरुष्कसेनापतिमर्दक ! जय करवालसुरेश ! ॥ ११ ॥

त्वं हर हरेति। हरति–नाशयति संसारमिति हरः, तत्सम्बुद्धौ हर ! वीप्सायां वा द्विरुक्तम्। हे देव त्वं जय जय–सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानो भव। प्रतापपक्षे शत्रुसैन्यनाशकत्वात् हर इति। मित्राणामुत्तमपुरुषाणां वा संपत्तिप्रापकत्वाद्वा हरेति। जय प्रताप !। भारतस्य भूषणम् अलंकारकारणत्वाद् भूषणस्वरूपम्। वसुधायाः–पृथिव्या अधिपः–प्रभुस्तत्सं-बुद्धौ। एतत्पर्यन्तं ध्रुवगानपदम्। हे धर्ममार्गस्य–श्रौतस्मार्तधर्मप्रवर्तकस्या-चारस्य परिरक्षक ! जय जय–त्वं सर्वोत्कृष्टतया वर्तमानो भव। मर्यादा-या भूपः–मर्यादाधिपतिस्तत्संबुद्धौ। हे शिशोदियावंशस्य विभूषण ! शोभाकारक! हे हरिहरप्रतिरूप !, विष्णुशिवसदृश !, पालनसंहारकारक-त्वात्तयोः सादृश्यम्। हे यवनाधिपस्य–अकबरस्य यो मानोऽभिमानस्तस्य विमर्दक–नाशक ! अथवा-यवनाधिपस्य मानस्य–मानसिंहस्य विमर्दक विध्वंसक ! जयविजयनामकगणयोर्महेश! प्रभो ! विष्णुरूप ! अथवा विज-यस्य महेश ! महाप्रभो !–सर्वदा विजयशालिन् ! जय जय–सर्वदा ते जयो भवतु। हे तुरुष्कसेनापतेः मानसिंहस्य वा शाहबाजस्य वा सली-मस्य वा मर्दक ! तत्तत्समयेषु परिमर्दनकारकत्वात्। यथा सलीमो हल्दी-घाटिकासंघट्टे परिमर्दितः, मानसिंहो माननगर (आमेर) लुण्टने चन्देन परिमर्दितः, शाहबाजश्च शक्तिसिंहेन परिमर्दितः हत इति बोध्यम्। करवालस्य–खड्गस्य, सुरेशः–इन्द्रः सर्वथाधिपतिरित्यर्थः, तत्सम्बुद्धौ, जय जय ॥ ११ ॥

शक्ति०—ससैनिकं समायान्तं शाहवाजं समुद्धतम् ।
विनिहत्य ससैन्यं तं शक्तिस्ते प्रणतः पदे ॥१२॥

प्रता०—अहो भ्राता शक्तिसिंहः ! (इति समुत्थाय समालिङ्गय स्वसमीपे उपवेशयति ।

(पुनर्योगिनी गायति)

हर हर जय जय देव !
जय प्रताप ! जय भारतभूषण ! जय वसुधाधिप ! देव !
हर हर जय जय देव !
जय जय माननगरविध्वंसक ! जय राजकतारेश !
जय जय मानमानविच्छेदक ! जय मेवाडनरेश ! ॥१३॥

(ततः प्रविशति माननगर (आमेर) विध्वंसकः प्रतापसेनापतिः ।
योगिनी वीणां वादयन्ती मौनमास्थिता ।)

(अत्रान्तरे प्रविशति शक्तिसिंहः । योगिनी वीणां वादयन्ती मौनमास्थिता)
प्रणमन्सन् स्वकार्यमपि बोधयति-शक्तिः-शक्तिसिंहः सैनिकैः सहितं-ससैनिकं, समायान्तं-युद्धाय समागच्छन्तं समुद्धतं महोद्भटं शाहवाजमेतन्नामकमकबरसेनापतिं ससैन्यं-सेनासहितं तं विनिहत्य-मारयित्वा ते-तव पदे प्रणतः, नमस्कारं करोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

असंभावितस्य भ्रातुः प्राप्तेराश्चर्यरसाविष्टः सन् प्रतापः कथयति—अहो भ्राता शक्तिसिंहः ।

अथ पुनर्योगिनी गायति-हर हरेति । हे माननगरस्य-आमेराख्य-मानपुरस्य विध्वंसक । जय जय-सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम् । राजके-नृपतिगणे तारेशः, चन्द्रसदृशः, यथा तारागणे चन्द्रस्तथा नृपतिसमूहे भवान् । अथ राजकम् । 'राजन्यकं च नृपतिक्षत्रियाणां गणे क्रमाद्' इत्यमरः । तत्सम्बुद्धौ । तथा हे मानस्य-मानसिंहस्य यो मानोऽभिमानस्तस्य विच्छेदक ! विघातक ! जय जय । हे मेवाडनरेश ! जय जय ॥१३॥

सेना०—असावामेरलुण्टाको मानगर्वविमर्दकः।
अयं सेनापतिश्चन्द्रो वन्दते त्वत्पदाम्बुजम् ॥१४॥
(इति पादौ प्रणमति।)

प्रता०—साधु सेनापते! साधु। (इति तत्पृष्ठमास्फालयति, उपसन्निहितं तमुपवेशयति)

(पुनर्योगिनी गायति)

हर हर जय जय देव!
जय प्रताप! जय भारतभूषण! जय वसुधाधिप! देव!
जय सन्धौ तुरुष्कसंप्रार्थित! जय सच्चरितदिनेश!
जय नरपते! स्वतन्त्रधराधिप! जय जय जितयवनेश! ॥१५॥

(इति गायन्ती अन्तर्हिता।)

ततः प्रविशति माननगरविध्वंसकश्चन्दावतसेनापतिः—असौ इति। आमेरस्य—आमेराख्यमाननगरस्य लुण्टाकः, मानस्य—मानसिंहस्य यो गर्वोऽभिमानस्तस्य विमर्दकः असौ प्रत्यक्षतया विद्यमानस्तव सेनापतिश्चन्द्रः त्वत्पदाम्बुजं वन्दते। चन्द्रस्य अम्बुजं प्रति प्रणामः शत्रुत्वात्स्वापराधशमनार्थमेव। अयं चन्द्रः—चन्दावन्नाम्ना प्रसिद्धः पूर्वं मन्त्री आसीत्, इदानीं तु स एव सेनापतिः। चन्दावत्शक्तावत्नाम्ना प्रसिद्धौ द्वावपि सामन्तौ स्तः॥ १४॥

अथ तत्कर्मणा प्रसन्नः प्रतापस्तत्पृष्ठमास्फालयति। स्वसमीपमेवोपवेशयति।

पुनर्योगिनी गायति—हर हर इति। हे सन्धौ—सन्धिविषये तुरुष्केण संप्रार्थित! हे सच्चरितस्य—उत्तमचरित्राणां सदाचारस्य वा दिनेश! सूर्य! यथा सूर्यो घटपटादिपदार्थानां प्रकाशकस्तथाऽयमपि सदाचारस्य प्रवर्तकः प्रकाशकश्च, तत्सम्बुद्धौ। हे नरपते! हे स्वतन्त्रा—पराधिकारशून्या या धरा—पृथ्वी तस्या अधिप! प्रभो!, अयं। यद्वा—हे स्वतन्त्र! पराधीनतारहित! हे जितो यवनेशोऽकबरो येन स तत्सम्बुद्धौ, हे जितयवनेश! जय जय-सर्वोत्कृष्टतया वर्तताम्। इति गायन्ती योगाभ्यासबलादन्तर्हिता जाता॥१५॥

ततः प्रविशति सन्धिपत्रमादाय अकबरस्यानुचरः। स च प्रतापपादयो-र्विनिपत्य अकबरस्य सन्धिपत्रं समर्पयति। प्रतापस्तदुद्घाट्य सर्वान् श्रावयति।)

श्रीमरस्तु श्रौतस्मार्तधर्मरक्षकेषु गोब्राह्मणप्रतिपालकेष्वार्य-पतिप्रतापेषु सप्रणयमसौ प्रार्थयते।

स्वतन्त्रा. सर्वतः सन्तो भवन्तो मम मानिनः।
पूज्याः सीमामनुल्लङ्घ्य शान्तिं कुर्वन्तु चिरशः ॥१६॥

इति भवदीयः प्रियसुहृदकबरः

प्रता०—स्वीकृतस्ते सन्धिरिति म्लेच्छाधिपतिं संदिश। (ततः सप्रणयमकबरस्यानुचरो निष्क्रान्तः)

प्रतापः सन्धिपत्रं श्रावयति—श्रीमरस्तु इत्यादि। श्रीः—सम्पल्लक्ष्मी-र्विद्या वा तद्युक्तेषु, श्रौतः-श्रुतिप्रतिपादितो वेदविहितः,स्मार्तःस्मृत्यादिसत्-दाचारमूलको वा यो धर्मस्तस्य रक्षकेषु गोः श्रुतिस्मृत्यादिरूपाया वाण्याः धेन्वा वा ब्राह्मणानाञ्च प्रतिपालकेषु अध्ययनाध्यापनप्रोत्साहादिना भोजन-वस्त्राच्छादनादिसाहाय्यदानेन वा परिरक्षकेषु 'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्यः प्राणान्परित्यजेत्'इति स्मृत्यादिषु विधानात्प्राणपणेन तद्रक्षकेषु, आर्य-पतिप्रतापेषु। आर्याणामधिपतिः प्रताप एव स्वातन्त्र्येण तेषां संरक्षक-त्वात्। असौ अकबरः सप्रणयम्-अधीनतासहित यथा [illegible] सन्धिं याचते, न [illegible] स्वातन्त्र्येण कथयतीत्यर्थः।

गुह:—अच्चरियम्! अच्चरियम्!। एगलिङ्गप्पहावेण अम्हाण
आश्चर्यम्! आश्चर्यम्!। एकलिङ्गप्रभावेणास्माक
पहुणो सव्वोऽवि मणोरहो जुगवदेव्व संपुण्णो जाओ
प्रभोः सर्वोऽपि मनोरथो युगपदेव संपूर्णो जातः।
आमेरं माणणअरं विलुण्टिय माणसीहगव्वो वि-
आमेर माननगर विलुण्ठ्य मानसिंहगर्वो वि-
चुण्णिओ। आकमणमहिलसन्ती सव्वा चेय अगबर
चूर्णितः। आक्रमणमभिलषन्ती सर्वा एव अकबर-
सेणा नासिआ। अच्चरियं! अच्चरियं! अगबरो अ मानं
सेना नाशिता। आश्चर्यम्! आश्चर्यम्! अकबरश्च मान
चइत्ता अम्हाण पहुणो पदावस्स चरणम्मि णिवडिओ।
त्यक्त्वाऽस्माक प्रभोः प्रतापस्य चरणे निपतितः।

शक्ति०—(प्रताप प्रति) अहो अस्या योगिन्या वाचि अनिर्वचनीया शक्तिः विद्युदिव सर्वतो धमनीषु शौर्यौदार्यशक्तिं संचारयति, त्वयि च परमां भक्तिमुत्पादयति।

णीयाः चनियरनेन पूजार्हा वा। सोमा–स्वकीयसीमान यावत्पर्यन्तमिदानीं भवतामधिकारोऽस्ति तां सीमाम्। 'सीमसीमे स्त्रियामुभे' इत्यमरः। अनुल्लङ्घ्य स्वसीमायामेव स्थितः सन् विश्वतः 'सप्तम्यर्थे तसि.' विश्वस्मिन् सर्वत्र शान्तिं कुर्वन्तु। शान्तिकरणं स्वदधीनमेवेति सन्धि प्रार्थयते। तेन शान्तिर्भविष्यतीति भावः। इति एतत्प्रार्थयते भवदीयः प्रियः श्रेष्ठः सुहृद् 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयो' इति हृदयशब्दस्य मित्रेऽर्थे हृदित्यादेशः। प्रियमित्रमित्यर्थः॥ १६॥

अथ गुहो मिल्लराजो युगपत्सर्वविधकार्यसिद्धिमालोक्य आश्चर्यरसाविष्टः कथयति–आश्चर्यमित्यादि। किं तत्कार्यमिति दर्शयति–आमेरनगरलुण्ठनेन मानसिंहगर्वविमर्दनमसंभावितमिवासीत्तदपि एकलिङ्ग प्रभावेण जातम्। प्रलयकालिकसमुद्र इवायान्ती अकबरसेना शक्तिसिंहेन क्षणमात्रेणैव नाशिता। अहो आश्चर्यकरमिदं महत्कार्यं जातम्।

तत प्रविशति सन्धिपत्रमादाय अकबरस्यानुचर । स च प्रतापपादयो-र्विनिपत्य अकबरस्य सन्धिपत्र समर्पयति । प्रतापस्तदुद्घाट्य सर्वान् श्रावयति ।)

श्रीमस्तु श्रौतस्मार्तधर्मरक्षकेषु गोब्राह्मणप्रतिपालकेष्वार्य-
पतिप्रतापेषु सप्रणयमसौ प्रार्थयते ।

स्वतन्त्रो सर्वतः सन्तो भवन्तो मम मानिन ।
पूज्या सीमामनुल्लङ्घ्य शान्तिं कुर्वन्तु विरवत ॥१६॥

इति भवदीय प्रियसुहृदकबर

प्रता०—स्वीकृतस्ते सन्धिरिति म्लेच्छाधिपतिं संदिश । (तत सप्रणयमकबरस्यानुचरो निष्क्रान्त)

प्रताप सन्धिपत्र श्रावयति—श्रीमस्तु इत्यादि । श्री —सपल्लक्ष्मी विद्या वा तद्युक्तेषु श्रौत -श्रुतिप्रतिपादितो वेदविहित ,स्मार्त स्मृत्यादिस्त दाचारमूलको वा यो धर्मस्तस्य रक्षकेषु गो श्रुतिस्मृत्यादिरूपाया वाण्या धेन्वा वा ब्राह्मणानाञ्च प्रतिपालकेषु अध्ययनाध्यापनप्रोत्साहादिना भोजन-वस्त्राच्छादनादिसाहाय्यदानेन वा परिरक्षकेषु 'ब्राह्मणार्थे गवार्थे वा सद्य प्राणा॰परित्यजेत्'इति स्मृत्यादिषु विधानात्प्राणपणेन तद्रक्षकेषु आर्य-पतिप्रतापेषु । आर्याणामधिपति प्रताप एव स्वात-न्त्र्येण तेषा सरक्षक-स्वात् । असौ अकबर सप्रणयम्-अधीनतासहित यथा स्यात्तथा, प्रार्थयते सन्धि याचते, न तु स्वात॰ येण कथयतीत्यर्थ ।

किं प्रार्थयते इत्याह—स्वतन्त्रा इति । सन्त उत्तमाः सदाचार-सम्पन्ना भवन्त आदरणीया सर्वत सर्वतोभावेन स्वतन्त्रा , देशाधिकार-शासनादिसर्वकार्येषु स्वाधिपत्ययुक्ता , न च युष्माक राज्ये करग्रहणस्पृहा मय करिष्याम , नापि युष्माक शासनप्रबन्धे किञ्चिदपि हस्तक्षेप विधा-स्याम सर्वमेतत् 'सर्वत 'इति पदेन व्यज्यते । तथा भवन्तो मम मानिन । यदि किञ्चिदप्यस्माकमनौचित्य भवन्तो बोधयिष्यन्ति तत्त्वरितमेव निवर्तयिष्याम । अपि च भवन्त पूज्या अस्माक सर्वतोभावेन आदर-

गुह:—अच्चरियम् ! अच्चरियम् ! । एगलिङ्गप्पहावेण अम्हाणं
आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! । एकलिङ्गप्रभावेणास्माकं
पहुणो सव्वोऽवि मणोरहो जुगवदेव्व संपुण्णो जाओ
प्रभोः सर्वोऽपि मनोरथो युगपदेव संपूर्णो जातः ।
आमेरं माणणअरं विलुण्टिय माणसीहगव्वो वि-
आमेरं माननगरं विलुण्ठ्य मानसिंहगर्वो वि-
चुण्णिओ । आक्कमणमहिलसन्ती सव्वा चेअ अगबर
चूर्णितः । आक्रमणमभिलषन्ती सर्वा एव अकबर-
सेणा नासिआ । अच्चरियं ! अच्चरियं ! अगबरो अ मानं
सेना नाशिता । आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् ! अकबरश्च मानं
चइत्ता अम्हाणं पहुणो पदावस्स चरणम्मि णिवडिओ ।
त्यक्त्वाऽस्माकं प्रभोः प्रतापस्य चरणे निपतितः ।

शक्ति०—(प्रतापं प्रति) अहो अस्या योगिन्या वाचि अनिर्वचनीया शक्तिः विद्युदिव सर्वतो धमनीषु शौर्यौदार्यशक्तिं संचारयति, त्वयि च परमां भक्तिमुत्पादयति ।

योग्यः क्षत्रियत्वेन पूजार्हो वा । सीमां-स्वकीयसीमानं यावत्पर्यन्तमिदानीं भवतामधिकारोऽस्ति तां सीमाम् । 'सीमसीमे स्त्रियामुभे' इत्यमरः । अनुल्लङ्घ्य स्वसीमायामेव स्थितः सन् विश्वतः 'सप्तम्यर्थे तसिः' विश्वस्मिन् सर्वत्र शान्तिं कुर्वन्तु । शान्तिकरणं त्वदधीनमेवेति सन्धिं प्रार्थयते । तेन शान्तिर्भविष्यतीति भावः । इति एतत्प्रार्थयते भवदीयः प्रियः श्रेष्ठः सुहृद् 'सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः' इति हृदयशब्दस्य मित्रेऽर्थे हृदित्यादेशः । प्रियमित्रमित्यर्थः ।। १६ ।।

अथ गुहो भिल्लराजो युगपत्सर्वविधकार्यसिद्धिमालोक्य आश्चर्यरसाविष्टः कथयति-आश्चर्यमित्यादि । किं तत्कार्यमिति दर्शयति-आमेरनगरलुण्टनेन मानसिंहगर्वविमर्दनमसंभावितमिवासीत्तदपि एकलिङ्गप्रभावेण जातम् । प्रलयकालिकसमुद्र इवायान्ती अकबरसेना शक्तिसिंहेन क्षणमात्रेणैव नाशिता । अहो आश्चर्यकरमिदं महत्कार्यं जातम् ।

प्रता०—एवमेवैतत्। सेयं तपोबलेनेमां शक्तिमापन्ना।

राजगुरुः—(प्रविश्य) प्रताप! साधु त्वयाऽऽर्यमर्यादा रक्षिता।
म्लेच्छराजश्च नम्रीकृतः।

आज्ञा सर्वशिरोमणिप्रणयिनी भक्तिश्च ते भारते
सौजन्यं परमं सुत प्रणयवान् कान्ता मनोहारिणी।
राज्यं सन्निरुपद्रवं प्रकृतयो गाढानुरक्तास्त्वयि
स्तोत्रं सिन्धुपरात्परं किमपरं भूय प्रियं कुर्महे ॥ १७ ॥

प्रताप·—तथापि इदं भरतवाक्यमस्तु—

सर्वे सत्पथगामिन शिवरताः स्वातन्त्र्यदेवप्रियाः
ब्रह्मण्या निजधर्मकर्मकुशला राष्ट्रानुगा मानिनः।
विद्वांसः स्वकदारमात्रनिरता दक्षा दृढप्रत्यया
भूयासुर्वसुधाधिपा नयविदः पुण्ये पुनर्भारते ॥ १८ ॥

राजगुरु· तथाऽस्तु।
(इति भूयः पठति।)

पटोत्क्षेप)

यदयमकबरो मान–स्वाभिमान मानसिंह वा त्यक्त्वा अस्माकं प्रभो· चरणे निपतितः। एतेन स्वस्यापि कार्यसिद्धिः सूचिता भवति। अन्यत्सुगमम्।

सेयमिति। या जात्या नटजातिविशिष्टा आसीत्सैवेयम्। तपो बलेन इमां शक्तिमापन्नेति।

सर्वे इति। सर्वे सत्पथगामिनो भूयासुः। शिवे–कल्याणे, आत्मनो लोकस्य वा कल्याणे रताः। यद्वा शिवे·शङ्करोपासनायां रतास्तत्पराः। तथा स्वात·न्त्र्यस्य स्वतन्त्रताया अधिष्ठायको यो देवः स प्रिया येषां ते तथा। यद्वा स्वातन्त्र्य च देवश्च देवो विष्णुः शिवो वा। स्वातन्त्र्यदेवो। तौ प्रियौ येषा ते तथा। 'वा प्रियस्य' इति प्रियशब्दस्य परनिपात। यद्वा स्वातन्त्र्ये देवप्रियाः। देवानां प्रिया–देवप्रियाः। देवानां प्रिय इति तु मत। अन्यत्र देवप्रियाः। ब्रह्मण्याः ब्रह्मभक्ता। निजे–आत्मीये ये

इति श्रीविद्यावारिधिसर्वतन्त्रस्वतन्त्रमहामहोपाध्यायमथुराप्रसाद-
दीक्षितकृतौ वीरप्रतापनाटके सप्तमोऽङ्कः समाप्तः ।
समाप्तं चेदं नाटकम् ।

धर्मकर्मणी तत्र कुशलाः। राष्ट्रस्य अनुगाः । मानिनः–मानयुक्ताः नत्वभिमानशून्याः । विद्वांसः पण्डिताः सदसद्विवेकवेत्तारः । स्वकदारमात्रे निरताः स्वदारसंतुष्टा इत्यर्थः । दक्षाः–कार्यकुशलाः । दृढः प्रत्ययः स्वधर्मे विश्वासो येषां ते तथा । नयविदः–नीतिनिपुणाः समयानुकूल्येन राष्ट्रसेवाकारकाः, वसुधाधिपाः–वसुधायाः सर्वविधसमृद्धिसंपूरितायाः भारतभूमेरधिपाः प्रभवो राजानः पुण्ये–पवित्रे भारते पुनः भूयासुः । पवित्रे भूयः पूर्वोक्तगुणविशिष्टा राजानो भवन्त्विति तात्पर्यार्थः ॥ १८ ॥

यत्तु ग्रन्थसमाप्तावपि अङ्कसमाप्तौ 'निष्क्रान्ताः सर्वे' इति 'अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्तितः' इति विश्वनाथवचसा निष्क्रामणं कारयन्ति, तन्नातितरां रोचते । निष्क्रमणानन्तरं शून्यस्थानावलोकनेन सामाजिकानां वैरस्यं स्यात् ।

इति श्रीमन्महामहोपाध्यायमथुराप्रसाददीक्षितविरचितायां वैजयन्तीटीकायां सप्तमोऽङ्कः ।

समाप्ता चेयं वैजयन्ती ।

अथ टीकाकर्तुः परिचयः—

शताब्द्यां षोडशीयायां शिवराजपुराधिपैः ।
चिकीर्षितं विष्णुयागं श्रीकान्तो द्रष्टुमाययौ ॥१॥
यज्ञे यज्ञाग्निनीतौ विकलतरलितान्मानुषान्प्रेक्ष्य धीरः
प्रोवाचेत्थं त्वयैवं किमिह विधिविधौ बाह्यवह्निर्विधेयम् ।
आक्षिप्तस्तर्हि कार्यस्तव यदि महिमाऽभ्यन्तराग्निप्रसूतौ
हुं कृत्वा मन्त्रशक्त्याऽनिलमधियजनं दीप्तिमन्तं निनाय ॥२॥
अथ विदुषामनुरोधाद्राज्ञश्चाप्यनुनयादचीकरत ।
यज्ञं स्वयं च कृतवान् दीक्षितपदवीं ततः प्रापः ॥ ३ ॥
अद्वितीयमहिमा स बभूव कान्यकुब्जवरभूसुरमध्ये ।
तोषितः स्वकृतितो वरवर्णी सोऽपि चाशिषमदत्त ततोऽस्मै ॥४॥
भवत्कुले तिष्ठतु सर्वदा सती सरस्वती साधुपदा दृढास्पदा ।
विहाय वैरं गिरया च शाश्वतं न जातु पद्मा विजहातु ते कुलम् ५॥
भास्वद्भूरिप्रतापः सकलबुधगणोत्तमणीभूरिकीर्ती
राज्ञां मान्यो वरेण्यो हरिहरचरणस्तस्य वंशेऽजनिष्ट ।
तत्पुत्राः पञ्च जाता निगमनयविदस्ते च विद्वत्सु पूज्याः
सर्वे सिद्धान्तविज्ञाश्चरकविधिबुधा वैद्यवर्या बभूवुः ॥ ६ ॥
सकलमहीसुरमण्डनवर्यः शास्त्रार्थमर्मज्ञः ।
बदरीनाथो धीरो हरिहरपुत्रो भिषग्वरो जातः ॥ ७ ॥
तदात्मजोऽहं मथुराप्रसादः सुधियां मतः ।
तस्य मे विदुषां स्वान्ते कृतिर्विजयतामियम् ॥ ८ ॥